शाश्वत सुख का मार्गदर्शक मासिकपत्र

आत्मधर्म

: संपादक : रामजी माणेकचंद दोशी वकील

जनवरी : १९६० ☆ वर्ष पन्द्रहवाँ, पौष, वीर नि०सं० २४८६ ☆ अंक : ९

ज्ञानी की अभिलाषा

हमारा अतीन्द्रिय आनन्द ही हमें प्राप्त हो; जगत में और कुछ हमें नहीं चाहिये।

अनंत काल से बाह्य इन्द्रिय-विषयों सम्बन्धी सुख का उपभोग करने पर भी किंचित् तृप्ति या शांति नहीं हुई; किन्तु आकुलता और अतृप्ति ही बनी रही; ऐसे इन्द्रिय-विषयों के सुख अब हमें नहीं चाहिये... नहीं चाहिये... अब हमें स्वप्न में भी उनकी इच्छा नहीं है.... अब तो हम इन्द्रियों से पार, विषयों से दूर, अपूर्व आत्मिक सुख का स्वाद चखकर उसी अतीन्द्रिय आनन्द की अभिलाषा रखते हैं; उस अतीन्द्रिय आनन्द की पूर्णता के अतिरिक्त जगत में अन्य कुछ हम नहीं चाहते—अन्य किसी वस्तु की अभिलाषा हमें नहीं है।

वार्षिक मूल्य तीन रुपया

[१७७]

एक अंक चार आना

श्री दि० जैन स्वाध्याय मंदिर ट्रस्ट, सोनगढ़ (सौराष्ट्र)

पाठकों को सूचना

मोक्षमार्गप्रकाशक की किरणें, प्रथम भाग, द्वितीय संस्करण छपकर तैयार हो गया है। जिन्हें चाहिये, शीघ्र मंगा लेवें। मूल्य १) रु० है। पोस्टेज अलग।

प्रेस में छप रहे हैं

मोक्षमार्गप्रकाशक की किरणें, द्वितीय भाग
समयसार हरिगीतिका (हिन्दी पद्य में)
जैन सिद्धान्त प्रश्नोत्तर माला, द्वितीय भाग

पाठक गण प्रतीक्षा करें

सूचना

श्रीमत् भगवत् श्री कुन्दकुन्दाचार्य कृत-श्री नियमसार शास्त्र संस्कृत टीका सहित सर्वोत्तम संस्करण छपेगा। मूल्य लागत से भी एक रुपया कम लेने का है, अब प्रेस में है, छपने पर सूचित करेंगे।

सौराष्ट्र में वेदी प्रतिष्ठा के निमित्त

पू० श्री कानजीस्वामी के मंगलविहार का

कार्यक्रम

पू० श्री कानजीस्वामी के प्रताप से सौराष्ट्र में अनेक दि० जिनमंदिर बने हैं, इस साल माह मास में वडीआ, जेतपुर व गोंडल तीन गाँवों में जिनबिम्ब वेदी प्रतिष्ठा महोत्सव होनेवाला है, इस निमित्त से पू० स्वामीजी का विहार कार्यक्रम निम्नप्रकार है—

ता० १९ जनवरी	सोनगढ़ से प्रस्थान
लाठी	ता० २१-२२-२३
अमरेली	ता० २४ से २७
आंकडिआ	ता० २८-२९
वडीआ	ता० ३१ जनवरी से १-२ फरवरी
जेतपुर	ता० ४ से ८
गोंडल	ता० ९ से १२
राजकोट प्रवेश	ता० १४

राजकोट से फाल्गुन सुद १२ के दिन प्रतिष्ठा का दस वर्ष पूर्ण होता है, उसका दस वर्षीय महोत्सव पू० स्वामीजी की छत्रछाया में होगा। बाद में स्वामीजी सोनगढ़ पधारेंगे।

प्रतिकूल संयोग और आत्मा की समझ

प्रश्नः—प्रतिकूलता का दुःख दूर हो तो आत्मा समझ में आये—यह बात तो बराबर है न ?

उत्तरः—नहीं; प्रथम तो प्रतिकूलता का दुःख मानना ही भूल है। प्रतिकूल संयोगों का दुःख नहीं है किन्तु मोह का दुःख है। ''जितनी प्रतिकूलता, उतना दुःख''—ऐसा नहीं है, किन्तु ''जितना मोह, उतना दुःख''—ऐसा सिद्धान्त है।

दूसरे, प्रतिकूलता का दुःख दूर हो तो आत्मा समझ में आये—ऐसा नहीं है; किन्तु आत्मा को समझे तो दुःख दूर हो; यानी चाहे जैसी प्रतिकूलता हो, तथापि उसमें वह दुःख न माने। आत्मा की समझ होने पर बाह्य प्रतिकूलताएँ तो दूर हों या न भी हों किन्तु उन प्रतिकूलताओं के समय भी आत्मा के अतीन्द्रिय सुख का आस्वाद (अमुक अंश में) वर्तता ही है; इसलिये प्रतिकूलता से डरकर आत्मा को समझने के उद्यम से हताश होना योग्य नहीं है। चाहे जैसी प्रतिकूलता से न डरकर, निर्भयरूप से आत्मा को समझने का—उसके अनुभव का निरन्तर उद्यम करते रहना ही दुःख को दूर करके सुख प्रगट करने का उपाय है।

आत्मधर्म

: संपादक : रामजी माणेकचंद दोशी वकील

जनवरी : १९६० ☆ वर्ष पन्द्रहवाँ, पौष, वीर नि०सं० २४८६ ☆ अंक : ९

ज्ञानलक्षण से प्रसिद्ध अनेकान्तमूर्ति भगवान आत्मा

'अनेकान्तमूर्ति भगवान आत्मा की शक्तियों' सम्बन्धी यह अन्तिम लेख है। यह महत्वपूर्ण लेख-माला 'आत्मधर्म' में करीब सात वर्ष पहले प्रारम्भ हुई थी। समयसार में 'ज्ञानमात्र' कहकर आत्मा की पहिचान कराई है, तथापि उसे अनेकान्तपना किसप्रकार है और ज्ञानलक्षण द्वारा अनेकान्तस्वरूप आत्मा का अनुभव किसप्रकार होता है—यह समझाकर फिर ज्ञान लक्षण द्वारा लक्षित अनेकान्तमूर्ति भगवान आत्मा के अनन्त धर्मों में से ४७ शक्तियों के रूप में कुछ धर्मों का वर्णन किया और अंत में अनेकान्तस्वरूप आत्मा के अनुभव का फल बतलाकर आचार्यदेव इस विषय को पूर्ण करते हैं।

'अनेकान्त' सर्वज्ञ भगवान का ऐसा अलंघ्य शासन है जो किसी से तोड़ा नहीं जा सकता; वह भगवान आत्मा को अनंत शक्तिस्वरूप से प्रसिद्ध करता है। अरे जीव! तेरा आत्मा अनंत शक्ति से परिपूर्ण है, उसकी ओर दृष्टि कर... तुझमें ऐसी कौन-सी अपूर्णता है जो तू बाहर ढूँढ़ता है? संत तेरी आत्मशक्ति की प्रगट महिमा बतलाते हैं, उसे लक्ष में लेकर एकबार भी अंतर से उसका बहुमान करे तो तेरा बेड़ा पार हो जाये।

अनंत धर्मस्वरूप भगवान आत्मा को प्रसिद्ध करनेवाली जिननीति अनेकान्तस्वरूप है; उस अनेकान्तस्वरूप जिननीति का कभी उल्लंघन न करनेवाले संत परम अमृतमय मोक्षपद को प्राप्त करते हैं।—यह अनेकान्त का फल है।

'जीवत्व' से प्रारम्भ करके 'सम्बन्ध' शक्ति तक आचार्यदेव ने ४७ शक्तियों का वर्णन किया। आत्मा में ऐसी अनंत शक्तियाँ हैं और अनंत शक्तियाँ होने पर भी वह ज्ञानमात्र ही है; क्योंकि

'ज्ञानमात्र' कहने पर भी उससे कहीं अकेला ज्ञानगुण ही लक्षित नहीं होता किन्तु अनंत शक्तिस्वरूप सम्पूर्ण आत्मा लक्षित होता है, कोई शक्ति पृथक् नहीं रहती। इसलिये ज्ञानलक्षण भी ऐसे अनंत शक्ति सम्पन्न अनेकान्तमूर्ति भगवान आत्मा को ही प्रसिद्धि करता है।

अनंत शक्तियों में से ४७ शक्तियों का वर्णन करके आचार्यदेव २६४ वें कलश में कहते हैं कि आत्मा ऐसी अनंत शक्तियों से युक्त है, तथापि वह ज्ञानमात्रपने को नहीं छोड़ता। अनेक निजशक्तियों से सुनिर्भर होने पर भी आत्मा ज्ञानमय है; आत्मा का भाव ज्ञानमयपना नहीं छोड़ता। 'ज्ञानमात्र' कहने पर आत्मा के समस्त धर्मों सहित सम्पूर्ण चैतन्यवस्तु प्रतीति में आ जाती है। वह चैतन्यवस्तु द्रव्य-पर्यायमय है, और क्रमरूप प्रवर्तमान पर्यायों तथा अक्रमरूप प्रवर्तमान गुणों के परिणमन से वह अनेकधर्मस्वरूप है। ऐसी चैतन्यवस्तु को 'अनेकान्त' प्रसिद्ध करता है। अनेकान्त जिनेन्द्र भगवान का ऐसा अलंघ्य शासन है जो किसी से तोड़ा नहीं जा सकता। समस्त एकान्त मान्यताओं को क्षणमात्र में तोड़ दे और अनेकान्तस्वरूप भगवान आत्मा को प्रसिद्ध करे—ऐसा अरिहंत भगवान का अनेकान्त शासन जयवंत प्रवर्तमान रहता है।

अनंत शक्तिसम्पन्न और असंख्य प्रदेशी ऐसे आत्मा को सर्वप्रकार से प्रत्यक्ष जानकर सर्वज्ञ भगवान कहते हैं कि अरे जीव! तेरा आत्मा असंख्य प्रदेशी एवं अनंत शक्ति का पिण्ड है, उस स्वभाव की ओर देख... स्वयं से ही तेरी परिपूर्णता है। तेरे स्वभाव में किंचित् भी न्यूनता नहीं है कि तुझे दूसरों से लेना पड़े! तुझमें क्या कमी है जो तू अन्यत्र ढूँढ़ने जाता है? आत्मा की स्वभावशक्ति में जो पूर्ण ज्ञान-आनन्द-प्रभुता का सामर्थ्य था, वही हमने आत्मा में से प्रगट किया है, बाहर से कुछ नहीं आया... तेरे आत्मा में भी वैसा सामर्थ्य है; उसे तू जान और उसका विश्वास करके उस ओर उन्मुख हो तो तेरी आत्मशक्ति में से परिपूर्ण ज्ञान-आनन्द-प्रभुता प्रगट हो जायेंगे।

तेरा आत्मा निजशक्ति से भलीभाँति परिपूर्ण है; विकार या कर्मों से वह भरा नहीं है; उनसे तो पृथक् है। निजशक्तियों से वह इसप्रकार परिपूर्ण है; कि उनमें से एक भी शक्ति कम नहीं होती। आत्मा, विकार से तथा पर से पृथक् रहता है किन्तु अपने ज्ञानमात्रभाव को वह कभी नहीं छोड़ता। जिसप्रकार शर्करा मैल को छोड़ती है किन्तु मिठास को नहीं छोड़ती, जिसप्रकार अग्नि धुएँ को छोड़ती है किन्तु उष्णता को नहीं छोड़ती; उसीप्रकार चैतन्यमूर्ति आत्मा, रागादि विकारभावों को छोड़ता है किन्तु अपने ज्ञानभाव को कभी नहीं छोड़ता; इसलिये ज्ञानभाव द्वारा अपने आत्मा को लक्ष में लेकर आत्मा की प्रसिद्धि कर... आत्मा का अनुभव कर।

जिन्होंने ज्ञानलक्षण को अंतर्मुख करके लक्षरूप आत्मा का अनुभव किया, वे साधक धर्मात्मा सदैव ज्ञानभावरूप से ही वर्तते हैं। ज्ञानभाव को कभी छोड़ते नहीं हैं और विकारमय कभी होते नहीं हैं... और ज्ञानमयभाव में 'पर का करूँ'—इस बुद्धि को तो अवकाश ही कहाँ है ? 'सीता को इसप्रकार ढूँढूं तो मिलेगी...' ऐसा विकल्प ज्ञानी धर्मात्मा (रामचन्द्रजी) को आया, तथापि उस समय भी ज्ञानी, विकल्पमय होकर परिणमित नहीं हुए हैं; उस समय भी ज्ञानमयभावरूप से ही परिणमन हो रहा है; विकल्प को ज्ञानभाव से बाहर ही रखा है।

ज्ञानी जानते हैं कि मेरा आत्मा ही क्रमपर्यायरूप और अक्रमगुणरूप स्वभाववाला है। अनंत गुण एक साथ अक्रमरूप से सहवर्ती है... और पर्यायें नियतक्रमरूप हैं। अपने अक्रमवर्ती गुणों में तथा क्रमवर्ती पर्यायों में मैं ज्ञानमात्रभावरूप ही वर्तता हूँ;—ऐसे निर्णय में ज्ञातास्वभाव का अनंत पुरुषार्थ है... विकार की ओर के पुरुषार्थ का वेग टूट गया है... अल्पराग रहा, उसकी निरर्थकता को जाना है... ज्ञानमात्रभावरूप से ही परिणमित होता हुआ साधक, केवलज्ञान की ओर चला जाता है।

देखो, यह आत्मशक्ति के साधक संतों की दशा ?

ज्ञानी तो अपनी अनंतशक्ति के सम्राट हैं। जगत की उन्हें चिन्ता नहीं, क्योंकि जगत से उन्हें कुछ लेना नहीं है... भगवान के दास... जगत से उदास... ऐसे सम्यक्त्वी जीव सदैव सुखी हैं... आत्मिक आनन्द का अनुभव करते हैं... चैतन्य के आनंदसमुद्र में डुबकी मारकर वे अल्पकाल में केवलज्ञानरत्न प्राप्त करते हैं।

अहो... चैतन्य सागर ! शांत-आनन्दरस से परिपूर्ण समुद्र... ! उसे तो अज्ञानी देखते नहीं हैं और मात्र विकार को ही देखते हैं। जिसप्रकार समुद्र से अपरिचित व्यक्ति अगाध जल से भरे हुए समुद्र को तो नहीं देखता और मात्र लहरों को ही देखता है; उसे ऐसा लगता है कि लहरें उछल रही हैं; किन्तु वास्तव में लहरें नहीं उछलतीं; भीतर अपार समुद्र अगाध जल से भरपूर है, उस समुद्र की शक्ति उछलती है। उसीप्रकार जो अगाध-गम्भीर स्वभावों से परिपूर्ण इस चैतन्यसमुद्र को नहीं जानता, उसे मात्र विकारी पर्याय ही भासित होती है; अनंत शक्ति से भरपूर चैतन्यसमुद्र अज्ञानी को दिखाई नहीं देता; इसलिये उसकी पर्याय में वे शक्तियाँ उल्लसित नहीं होती, विकार ही उल्लसित होता है। ज्ञानी तो अनंत शक्ति से परिपूर्ण अखंड चैतन्यसमुद्र में डुबकी लगाकर, उसे विश्वास में लेकर उसके आधार से अपनी पर्याय में निजशक्तियों को उछालते हैं अर्थात् निर्मलरूप से

परिणमित करते हैं। इसप्रकार ज्ञानी अनंत शक्ति से उल्लसित अपने अनेकांतमय चैतन्यतत्व का अनुभव करते हैं; और ऐसे अनेकान्तमूर्ति भगवान आत्मा का अनुभव करना ही इन शक्तियों के वर्णन का तात्पर्य है।

जैसी सर्वज्ञता, जैसी प्रभुता, जैसा अतीन्द्रिय आनन्द तथा जैसा आत्मवीर्य अरिहंत और सिद्ध भगवान में है, वैसी ही सर्वज्ञता, प्रभुता, आनन्द एवं वीर्य की शक्ति इस आत्मा में भी सदा विद्यमान है।

भाई! एकबार हर्ष तो ला... कि अहो! ऐसा है मेरा आत्मा! मेरे आत्मा में ज्ञान-आनन्द की परिपूर्ण शक्ति विद्यमान है; मेरे आत्मा की शक्ति का घात नहीं हो गया है। 'अरे रे! मैं दब गया, विकारी हो गया... अब कैसे मेरा मस्तक ऊँचा होगा!'—इसप्रकार भयभीत न हो... हताश न हो... एकबार अपने स्वभाव का हर्ष ला... उल्लास प्रगट कर... उसकी महिमा लाकर अपनी शक्ति को उछाल!

अहो! अपने अंतर में आनन्द का समुद्र उछल रहा है; उसे तो जीव देखते नहीं हैं और तृणतुल्य विकार को ही देखते हैं। अरे जीवो! इधर अंतर में दृष्टि करके आनन्द के समुद्र को देखो... चैतन्यसमुद्र में डुबकी लगाओ!!

अपने अंतर में आनन्द का समुद्र उछल रहा है, उसे भूलकर अज्ञानी तो बाह्य में क्षणिक पुण्य का ठाठबाट देखते है; उसी में सुख मानकर मूर्च्छित हो जाते हैं; और जहाँ किंचित् प्रतिकूलता आती है, वहाँ दु:ख में मूर्च्छित हो जाते हैं; किन्तु परम महिमावंत अपने आनन्दस्वभाव को नहीं देखते। ज्ञानी तो जानते हैं कि मैं स्वयं ही आनन्दस्वभाव से परिपूर्ण हूँ; कहीं बाह्य में मेरा आनन्द नहीं है अथवा अपने आनन्द के लिये मुझे किसी बाह्य पदार्थ की आवश्यकता नहीं है।—ऐसा भान होने से ज्ञानी बाह्य में पुण्य-पाप के ठाठ में मूर्च्छित नहीं होते—उलझते नहीं है। पुण्य की सुविधाएँ मिलने पर ज्ञानी कहते हैं कि—अरे पुण्य! रहने दे... तेरी शोभा हम नहीं देखना चाहते; हमें तो सादि-अनंत अपने आनन्द को ही देखना है... अपने अतीन्द्रिय आत्मानन्द के सिवा इस जगत में अन्य कुछ हमें प्रिय नहीं है। हमारा आनन्द हमारे आत्मा में ही है। इस पुण्य के ठाठ में कहीं हमारा आनन्द नहीं है। न तो पुण्य की अनुकूलताएँ हमें आनन्द दे सकती हैं और न प्रतिकूलताओं के झुंड हमारे आनन्द को लूटने में समर्थ है!—ऐसी ज्ञानी की अंतर्दशा होती है। उसे स्वसंवेदना प्रत्यक्ष से अपने आनन्द का वेदन हुआ है। आत्मा का ऐसा अचिंत्यस्वभाव है कि वह स्वसंवेदन प्रत्यक्ष से ही

ज्ञात होता है; 'स्वयं प्रत्यक्ष' हो—ऐसा आत्मा का स्वभाव है। स्वयं प्रत्यक्ष स्वभाव की पूर्णता में परोक्षपना अथवा क्रम रहे—ऐसा स्वभाव नहीं है; तथा स्वयं प्रत्यक्ष आत्मा में बीच में विकल्प-राग-विकार या निमित्त की उपाधि घुस जाये—ऐसा भी नहीं है; अर्थात् व्यवहार के अवलम्बन से आत्मा का संवेदन हो—ऐसा नहीं होता। पर की तथा राग की आड़ को बीच से निकालकर अपने एकाकार स्वभाव का ही सीधा स्पर्श करने पर ही आत्मा का स्वसंवेदन होता है; इसके अतिरिक्त अन्य किसी उपाय से आनन्दस्वरूप भगवान आत्मा का वेदन नहीं होता।

अहो! ऐसा स्वसंवेदनस्वभावी चैतन्यभगवान आत्मा स्वयं विराजमान है; किन्तु अपनी ओर न देखकर विकार की ओर ही देखता है; इसलिये विकार का ही वेदन होता है। यदि अंतर में दृष्टि करके अपने चिदानन्दस्वरूप को निहारे तो आनन्द का वेदन हो और विकार का वेदन दूर हो जाये।

संतों ने आत्मा की ऐसी प्रगट महिमा बतलाई है; इस अचिन्त्य महिमा को लक्ष में लेकर एकबार भी यदि अंतर से उछलकर उसका बहुमान करे तो संसार से बेड़ा पार हो जाये। चैतन्यस्वभाव का बहुमान करने पर अल्पकाल में ही उसका स्वसंवेदन होकर मुक्ति हुए बिना नहीं रहती। वस्तु में परिपूर्ण ज्ञान-आनन्द की शक्ति विद्यमान है; उसे पहिचानकर उस ओर उन्मुख होकर पर्याय में उसे प्रगट करना है। अरे जीव! एकबार अन्य सब भूल जा और अपनी निजशक्ति को सम्हाल! पर्याय में संसार है, उसे भूलकर अंत:तत्वरूप निजशक्ति की ओर देखे तो उसमें संसार है ही नहीं। चैतन्यशक्ति में संसार था ही नहीं, है ही नहीं और होगा भी नहीं।—लो, यह है मोक्ष! ऐसे स्वभाव की दृष्टि से आत्मा मुक्त ही है। इसलिये एकबार और सबको लक्ष में से हटाकर ऐसे चिदानन्दस्वभाव में लक्ष को एकाग्र करे तो तुझे मोक्ष की शंका न रहे; अल्पकाल में अवश्य ही मुक्ति हो जाये।

आत्मा में इतनी अनंत शक्तियाँ हैं कि राग से गिनने पर (चिंतवन करने पर) उनका अंत नहीं आ सकता... किन्तु ज्ञान को अन्तरोन्मुख करने पर अनंत शक्तिसहित आत्मा अनुभव में आ जाता है... वे शक्तियाँ निर्मलरूप से परिणमित हो जाती हैं। इसप्रकार निर्मलरूप से परिणमित होने पर जब केवलज्ञान होता है, तब अनंतशक्तियों को तथा असंख्य प्रदेशों को सर्वप्रकार से प्रत्यक्ष जानता है; इसलिये हे भाई! यदि तुझे अपने आत्मा का पता लगाना हो... अपनी अनंत शक्तियों की ऋद्धि को साक्षात् देखना हो तो अपने ज्ञान को राग से पृथक् करके अंतरस्वभाव की ओर एकाग्र कर!

'सर्वार्थसिद्धि' उत्कृष्ट देवलोक है; वहाँ असंख्य देव हैं, वे सब सम्यग्दृष्टि हैं और उनकी आयु ३३ सागरोपम (असंख्य अरब वर्ष की) है। वे समस्त देव मिलकर असंख्य वर्षों तक अखण्डरूप से गिनते रहें, तब भी आत्मा की शक्ति का पार नहीं आ सकता—ऐसी अनंत शक्ति का स्वामी यह प्रत्येक आत्मा है। उन सम्यग्दृष्टि देवों ने स्वसंवेदन से अनंत शक्तिसम्पन्न आत्मा का स्वाद चख लिया है। ज्ञान को अंतर में लीन करने पर क्षणमात्र में आत्मा की सर्वशक्तियों का पार पाया जा सकता है। शक्तियों को क्रमशः जानने जाये तो कभी पूरा नहीं पड़ सकता। किन्तु अक्रम-अभेदस्वभाव में लीन होकर जानने से समस्त शक्तियाँ एकसाथ अक्रमरूप से ज्ञात हो जाती हैं। आत्मा एकसाथ अनंत शक्तियों से प्रतिष्ठित है; उसमें राग प्रतिष्ठा को प्राप्त नहीं होता।

प्रश्न—हम अनंत शक्तियों को जानें या एक आत्मा को?

उत्तर—अनंत शक्तियों से अभेदरूप ऐसे एक आत्मा को जानना चाहिये। आत्मा कहीं अनंत शक्तियों से पृथक् नहीं है; इसलिये शक्ति को बराबर जानते हुए भी शक्तिमान ऐसा आत्मा ही लक्ष में आता है; और एक आत्मा को लक्ष में लेने पर भी वह अपनी अनंत शक्तियों सहित ही अनुभव में आता है। यदि आत्मा को पृथक् रखकर उसकी शक्तियों को जानना चाहे, अथवा शक्तियों को लक्ष में लिये बिना आत्मा को जानना चाहे तो उसे नहीं जाना जा सकता; क्योंकि उसने गुण-गुणी को पृथक् माना, इसलिये अनेकान्तस्वरूप नहीं जाना; और अनेकान्त के बिना भगवान आत्मा की प्रसिद्धि नहीं होती। अनेकान्त ही भगवान आत्मा को यथार्थ स्वरूप से प्रसिद्ध करता है... वह 'अनेकान्त' सर्वज्ञ भगवान का अलंघ्य—किसी से न तोड़ा जा सके ऐसा—शासन है। एकान्त मान्यताओं को तोड़कर अनेकान्तस्वरूप से भगवान आत्मा को प्रसिद्ध करनेवाला वह अनेकान्तशासन जयवन्त वर्तता है।

जो इस अनेकान्तस्वरूप आत्मवस्तु को जानते हैं, श्रद्धा करते हैं और अनुभव करते हैं, वे ज्ञानस्वरूप होते हैं;—ऐसा कहकर (२६५वें कलश में) आचार्यदेव ने अनेकान्त का फल बतलाया है। इसप्रकार फल बतलाकर यह अनेकान्त अधिकार समाप्त करते हैं।

जिसप्रकार अनेकान्तमय वस्तुस्वरूप कहा, तदनुसार वस्तुतत्त्व की व्यवस्था को अनेकान्त-संगतदृष्टि द्वारा ज्ञानी सत्पुरुष स्वयमेव देखते हैं... और इसप्रकार स्याद्वाद की अत्यंत शुद्धि जानकर, जिननीति का उल्लंघन न करते हुए वे संत, ज्ञानस्वरूप होते हैं।

देखो, यह ज्ञानस्वरूप होना, सो अनेकान्त का फल है तथा वही जिननीति है; वही

जिनेश्वरदेव का मार्ग है। इससे विरुद्ध वस्तुस्वरूप को मानना, वह जिननीति नहीं किन्तु अनीति है। जो जिननीति का उल्लंघन करता है, वह मिथ्यादृष्टि होता है और घोर संसार में परिभ्रमण करता है। अनेकान्तस्वरूप पावन जिननीति का संत कभी उल्लंघन नहीं करते; इसलिये वे परम अमृतमय मोक्षपद को प्राप्त होते हैं।

यह अनेकान्त का फल है।

—इसप्रकार ज्ञानलक्षण से प्रसिद्ध होनेवाले अनेकान्तमूर्ति भगवान आत्मा का वर्णन समाप्त हुआ।

अनेकान्तस्वरूप भगवान आत्मा की प्रसिद्धि
करनेवाले साधक सन्तों को नमस्कार हो!

इस लेखमाला सम्बन्धी अंतिम निवेदन

'अनेकान्त' द्वारा अनंतधर्मस्वरूप भगवान आत्मा को प्रसिद्ध करनेवाली यह महान लेखमाला समाप्त हो रही है; इस प्रसंग पर आचार्य भगवंतों को तथा पूज्य गुरुदेव को भक्तिपूर्वक नमस्कार करते हैं कि जिन्होंने आत्मप्रसिद्धि का रहस्य प्रगट किया है।

समयसार के परिशिष्ट पर पूज्य गुरुदेव के प्रवचन कई बार हुए हैं। उनमें आठवीं बार के प्रवचन खूब विस्तृत एवं चैतन्य की मस्ती से भरपूर थे। उन प्रवचनों को मुख्यरूप से लेकर, उन्हीं में छठवीं, सातवीं तथा नववीं-दसवीं बार के प्रवचनों का मुख्य सार भी मिश्रित कर दिया गया है।—इसप्रकार इस विषय पर गुरुदेव के पाँच बार के प्रवचनों के आधार से यह लेखमाला तैयार हुई है।

आत्मस्वरूप को प्रगट करनेवाली यह लेखमाला अद्‌भुत है। जैनशासन के अनेक रहस्यों का-मुख्यतः आत्मानुभव के उपाय का—गुरुदेव ने इन प्रवचनों में पुनः पुनः इस प्रकार मंथन किया है कि शांतचित्त से स्वाध्याय करने पर मानों चैतन्यपरिणति आत्मस्वभाव के आसपास घूम रही हो... ऐसा अनुभव होता है। शुद्धचैतन्य की महिमा तो संपूर्ण लेखमाला में अखण्डरूप से भरी है... चैतन्यमहिमारूपी डोरी के आधार से ही यह लेखमाला गुँथी हुई है... इसलिये उसकी अखण्ड स्वाध्याय करते-करते मुमुक्षु-आत्मार्थी जीवों को ऐसी चैतन्यमहिमा जागृत होती है कि

मानों तत्काल उसमें उतरकर उसका साक्षात् अनुभव कर लें... अनेक जिज्ञासु इस आत्मसन्मुखता प्रेरक लेखमाला की पुनः पुनः स्वाध्याय करते हैं। वास्तव में इस लेखमाला द्वारा पूज्य गुरुदेव ने आत्मार्थी जीवों पर महान उपकार किया है।

—ऐसी महत्वपूर्ण एवं विस्तृत लेखमाला पूज्य गुरुदेव के सान्निध्य के प्रताप से ही पूर्ण हुई है... इस लेखमाला के लेखन में, उसमें दर्शाई हुई चैतन्यमहिमा का पुनः पुनः मंथन होने से मेरी आत्मरुचि को खूब पोषण प्राप्त हुआ है; वह रुचि आगे बढ़कर भगवान आत्मा की प्रसिद्धि के मेरे पुरुषार्थ को शीघ्र सफल बनाए—ऐसी पूज्य गुरुदेव के चरणों में विनम्र प्रार्थना है।

—ब्र० हरिलाल जैन

समयसार में श्री अमृतचन्द्राचार्य देव ने ४७ शक्ति का वर्णन किया है, यह लेखमाला एक हजार पृष्ठ में पूर्ण हुई है, किसी जिज्ञासु को उसकी स्वाध्याय करनी हो तो उसके लिये उसके लेख 'आत्मधर्म' में कहाँ से कहाँ तक छपे हैं, उसकी नंबरवार सूची यहाँ दी जा रही है।

क्र.सं.	नाम	अंक नं०
	ज्ञानलक्षण से प्रसिद्ध होनेवाला अनंत धर्मस्वरूप अनेकान्तमूर्ति आत्मा	८६
	आत्मा के ज्ञानमोक्षभाव में उछलती अनंत शक्तियाँ अनेकान्तमूर्ति भगवान आत्मा की कुछ शक्तियाँ	८८
१.	जीवत्वशक्ति	८९
२.	चितिशक्ति	९०
३.	दृशिशक्ति	९२
४.	ज्ञानशक्ति	९३
५.	सुखशक्ति	९४
६.	वीर्यशक्ति	९५
७.	प्रभुत्वशक्ति	९७
८.	विभुत्वशक्ति	९९
९.	सर्वदर्शित्वशक्ति	१००

१०.	सर्वज्ञत्वशक्ति	१०४
११.	स्वच्छत्वशक्ति	१०५
१२.	प्रकाशत्वशक्ति	१०७
	,, ,,	१०८
१३.	असंकुचित विकासत्वशक्ति	विशेषांक
१४.	अकार्यकारणत्वशक्ति	११३
१५.	परिणम्य परिणामकत्वशक्ति	११३
१६.	त्यागोपादानशून्यत्वशक्ति	१२७
१७.	अगुरुलघुत्वशक्ति	१२९
१८.	उत्पाद व्यय ध्रुवत्वशक्ति	१३०
	,, ,,	१३८
१९.	परिणामशक्ति	१४८
	,, ,,	१४९
२०.	अमूर्तत्वशक्ति	१५०
२१.	अकर्तत्वशक्ति	१५०
२२.	अभोक्तृत्वशक्ति	१५२
२३.	निष्क्रियत्वशक्ति	१५३
२४.	नियतप्रदेशत्वशक्ति	१५४
२५.	स्वधर्म व्यापकत्वशक्ति	१५५
२६.	साधारण-असाधारण साधारणसाधारणधर्मत्वशक्ति	१५६
२७.	अनन्तधर्मत्वशक्ति	१५७
२८.	विरुद्धधर्मत्वशक्ति	१५८
२९-३०.	तत्व-अतत्वशक्ति	१५९
३१-३२.	एकत्व-अनेकत्वशक्ति	१६०
३३-३४.	भावशक्ति-अभावशक्ति	१६१
३५-३६.	भावअभावशक्ति-अभावभावशक्ति	१६२

३७-३८.	भावभावशक्ति-अभावअभावशक्ति	१६३
३९.	भावशक्ति	१६४
४०.	क्रियाशक्ति	१६५
४१.	कर्मशक्ति	१६६
४२.	कर्तृत्वशक्ति	१६७
४३.	करणशक्ति	१६९
४४.	सम्प्रदानशक्ति	१७१
४५.	अपादानशक्ति	१७४
४६.	अधिकरणशक्ति	१७५
४७.	सम्बन्धशक्ति	१७६
ज्ञानलक्षण से लक्षित हुआ अनेकान्तमूर्ति भगवान आत्मा		१७७

सोनगढ़ जिनमन्दिर के
भित्ति-चित्रों का विवरण

तीर्थधाम सोनगढ़ में श्री सीमंधर भगवान का भव्य जिनमंदिर है। जहाँ अत्यन्त सुन्दर कला पूर्ण सुनहरी वेदी में श्री सीमंधर भगवान आदि जिनेन्द्र भगवन्त विराजमान हैं; उनकी अति प्रशांत वीतरागी पावन मुद्रा दर्शनार्थी के नयनों को शांतरस से तृप्त कर देती है। मन्दिर की चारों दीवारों पर अंकित सुन्दन चित्रों द्वारा भगवान का दरबार दीप्तिमान हो उठता है। जिनमन्दिर में कुल १३ चित्र हैं; जिनमें से कुछ मुनिभक्ति से भरपूर हैं, कुछ तीर्थंकरों के पूर्व भवों के प्रसंग दर्शाते हैं और किन्ही में तीर्थयात्रा के संस्मरणों द्वारा तीर्थभक्ति की हे। उन चित्रों का संक्षिप्त विवरण निम्नानुसार है—

(१) शांतिनाथ भगवान पूर्वभव में विदेहक्षेत्र में धनरथ तीर्थंकर के पुत्र मेघरथ थे; उस समय का एक प्रसंग। फिर वे ढाई द्वीप के तीर्थों की वंदना करते हैं वह दृश्य। (इस चित्र की कथा

आत्मधर्म अंक में आ चुकी है।)

(२) पूज्य श्री कानजीस्वामी ने पाँच सौ से अधिक यात्रियों के साथ श्री सम्मेदशिखर आदि तीर्थधामों की महान ऐतिहासिक यात्रा की, उसका भाववाही दृश्य। संघ की ३० मोटरकारों तथा ९ बसों की पंक्ति चली जा रही है। बीच-बीच में इन्दौर आदि अनेक नगरों में भावभीना स्वागत होता है। गुरुदेव यात्रियों सहित सम्मेदशिखर तीर्थ की वन्दना कर रहे हैं; कहीं-कहीं चर्चा-भक्ति आदि के दृश्य हैं।

(३) महावीर भगवान की बाल्यावस्था के प्रसंगों का दृश्य। एक देव सर्प का रूप लेकर वीर कुँवर के बल की परीक्षा करता है। बाल-तीर्थंकर को देखते ही दो मुनिवरों की सूक्ष्म शंका का समाधान हो जाता है।

(४) मथुरा नगरी में सप्तर्षि मुनिवरों के आगमन का अत्यन्त भावभाही दृश्य।

(५) २१ वें तीर्थंकर श्री नमिनाथ भगवान के वैराग्य का दृश्य। विदेहक्षेत्र के तीर्थंकर की सभा में नमिनाथ प्रभु की कथा सुनकर दो देव दर्शन करने आते हैं; उस प्रसंग पर नमिनाथ प्रभु वैराग्य पाकर दीक्षा ग्रहण करते हैं। साथ में १०० राजा भी दीक्षा लेते हैं।

(६) ऋषभदेव भगवान को जुगलिया के भव में दो मुनि आकर अनुग्रहपूर्वक सम्यक्त्व ग्रहण करने का उपदेश देते हैं; ऋषभदेव का जीव वहाँ सम्यक्त्व को प्राप्त होता है; उनके साथ-साथ उनकी पत्नी (श्रेयांसकुमार का जीव) तथा भरत आदि के जीव भी सम्यक्त्व प्राप्त करते हैं उसका भाववाही दृश्य।

(७) भावप्राभृत में कुन्दकुन्दाचार्यदेव ने 'शिवकुमारी परीत्तसंसारीओ जादो'—ऐसा कहकर शिवकुमार का दृष्टान्त दिया है; तत्सम्बन्धी यह चित्र है। जम्बूस्वामी पूर्वभव में शिवकुमार थे; और सुधर्मस्वामी पूर्वभव में उनके भाई थे; अपने भाई को मुनिदशा में देखते ही शिवकुमार भी वैराग्यपूर्वक दीक्षा लेने को त्यार हो जाते हैं; किन्तु माता-पिता आज्ञा नहीं देते। माता-पिता के आग्रहवश वे घर में ही विरक्त जीवन बिताते हैं उसका दृश्य।

(८) श्रीकृष्ण की माता देवकी के छह पुत्र दीक्षा लेकर मुनि हो गये हैं... और दो-दो की जोड़ी में तीन बार देवकी के यहाँ आहार के लिये पधारते हैं; देवकी उन्हें पहिचान नहीं पाती... उसे शंका होती है कि वे ही मुनि पुनः पुनः तीन बार क्यों पधारे? नेमिनाथ भगवान की सभा में उसकी शंका का समाधान होता है; उसका दृश्य।

(९) पूज्य श्री कानजीस्वामी के प्रभाव से सौराष्ट्र में तथा अन्य स्थान पर निमित्त दिगम्बर जिनमन्दिरों का दृश्य—[सोनगढ़ का जिनमंदिर तथा मानस्तम्भ, उमराला, बोटाद, वींछिया, लींबड़ी, वढवाण शहर, सुरेन्द्रनगर, जोरावरनगर, राणपुर, लाठी, सावर कुंडला, राजकोट, वांकानेर, मोरबी, पोरबन्दर, गोंडल, जेतपुर, वडीआ, पालेज और बम्बई—इन सभी स्थानों के दिगम्बर जिनमन्दिर इस चित्र में दिखलाये गये हैं।]

(१०) एकबार जिन्हें रामचन्द्रजी ने वन में आहारदान दिया था, वे गुप्ति-सुगप्ति मुनिवर पर्वत पर ध्यान में खड़े हैं; यक्ष उन्हें घोर उपसर्ग करते हैं; श्रीराम-लक्ष्मण उन यक्षों को भगाकर उपसर्ग दूर करते हैं और फिर सीता सहित महान भक्ति करते हैं। मुनिवरों को केवलज्ञान होता है... राम-लक्ष्मण-सीता कुछ दिनों तक उसी पर्वत पर रहते हैं और वहाँ अनेक जिनमन्दिरों का निर्माण कराते हैं। (इसी पर से पर्वत का नाम 'रामगिरि' हो जाता है।)

(११) विदेहक्षेत्र में श्री सीमंधर भगवान का दीक्षा कल्याणक प्रत्यक्ष देखकर नारदजी भरतक्षेत्र में आते हैं और राजा दशरथ के समक्ष भावपूर्वक उस दीक्षा कल्याणक के दृश्य का वर्णन करते हैं।

(१२) दिगम्बर जैनधर्म के धुरन्धर सन्त—श्री धरसेनाचार्यदेव, श्री कुन्दकुन्दाचार्यदेव, श्री उमास्वामि आचार्यदेव, श्री समन्तभद्राचार्यदेव, श्री नेमिचन्द्र सिद्धान्त चक्रवर्ती, श्री अमृतचन्द्राचार्यदेव, श्री पद्मनन्दि आचार्यदेव, तथा श्री पद्मप्रभमलधारिदेव—आदि आचार्य भगवन्तों की श्री कानजीस्वामी अत्यन्त भक्तिपूर्वक वन्दना कर रहे हैं; तथा उन आचार्यों के शास्त्रों की स्वाध्याय कर रहे हैं—उसका भक्तिपूर्ण दृश्य।

(१३) पूज्य श्री कानजीस्वामी ने सिद्धवरकूट की संघसहित यात्रा की; उस समय संघसहित नदी पार करने का उल्लासपूर्ण दृश्य। दूर सिद्धवरकूट दिखाई देता है और भक्तजन गुरुदेव के साथ नौका में बैठे हैं।

(—उपरोक्त चित्रों की कथाएँ आत्मधर्म में क्रमशः प्रकाशित होंगी।)

परम शांतिदायिनी
अध्यात्म-भावना

भगवान श्री पूज्यपाद स्वामी रचित 'समाधिशतक' पर परम पूज्य गुरुदेव श्री कानजी स्वामी के अध्यात्म भरपूर वैराग्य प्रेरक प्रवचनों का सार

[गतांक १७१ से चालू]

(वीर सं० २४८२, ज्येष्ठ शुक्ला १४, समाधिशतक गाथा २५)

आत्मा को समाधि कैसे हो—वीतरागी शांति कैसे हो—उसका यह वर्णन है। मेरा आत्मा, देह से भिन्न ज्ञानानन्दस्वरूप है—इसप्रकार पर से भिन्न आत्मा को जाने बिना समाधि नहीं होती। जो अपने को पर से भिन्न ज्ञानानन्दस्वरूप जानता है, उसे पर में 'यह मेरा मित्र या यह मेरा शत्रु'—ऐसी बुद्धि नहीं रहती। इसलिए बोधस्वरूप आत्मा के लक्ष से उसे ऐसा वीतरागभाव हो जाता है कि—कोई मेरा शत्रु और कोई मित्र—ऐसा वह नहीं मानता। यह बात इस गाथा में कहते हैं—

क्षीयन्तेऽत्रैव रागाद्यास्तत्त्वतो मां प्रपश्यतः।
बोधात्मानं ततः कश्चिन्न मे शत्रुर्न च प्रियः॥२५॥

अपने ज्ञानस्वरूप आत्मा के अवलोकन से यहीं राग-द्वेषादि दोष क्षय को प्राप्त हो जाते हैं, इसलिये मेरा कोई मित्र नहीं है या कोई शत्रु नहीं है। देखो, यह वीतरागी समाधि की रीति! मैं तो ज्ञानस्वरूप ही हूँ—ऐसा निर्णय करके जहाँ ज्ञानस्वरूप की भावना में लगा, वहाँ बाह्य में कोई मुझे अपने शत्रु या मित्र भासित नहीं होते; क्योंकि ज्ञानस्वरूप की भावना से राग-द्वेष का नाश हो गया है। जिस पर राग हो, उसे अपना मित्र मानते हैं और जिस पर द्वेष हो, उसे शत्रु मानते हैं; किन्तु मैं तो बोधस्वरूप शुद्ध चैतन्य हूँ—ऐसी भावना में राग-द्वेष का क्षय हो जाने से कोई मित्र-शत्रुरूप भासित नहीं होते। पहले से ही ऐसा वीतरागी अभिप्राय हुए बिना कभी राग-द्वेष का नाश नहीं होता और समाधि प्रगट नहीं होती। मैं ज्ञानस्वरूप हूँ; राग-द्वेष मेरे ज्ञानस्वरूप में हैं ही नहीं और बाह्य में

कोई मेरा शत्रु या मित्र नहीं है—ऐसे वीतरागी अभिप्रायपूर्वक चैतन्य की भावना से वीतरागी समाधि होती है। किन्तु पर को अपना इष्ट-अनिष्ट माने, पर को मित्र या शत्रु माने, उसके राग-द्वेष कभी दूर नहीं होते। इसलिये ज्ञानस्वरूप आत्मा को जानकर उसकी भावना करना ही रागादि के नाश का तथा समाधि का उपाय है।

इस शरीर की सेवा करनेवाले मेरे मित्र नहीं हैं, क्योंकि शरीर मैं नहीं हूँ; शरीर का घात करनेवाले मेरे शत्रु नहीं हैं, क्योंकि शरीर मैं नहीं हूँ; मैं तो ज्ञानस्वरूप हूँ। अपने ज्ञानस्वरूप की श्रद्धा-ज्ञान करके उसकी भावना से रागादि का क्षय होने पर मुझे कोई मित्र या शत्रुरूप भासित नहीं होता। सम्यग्दृष्टि अन्तरात्मा कोई राजा हो और युद्ध का प्रसंग भी आ जाये, तथापि उस प्रसंग पर भी उसे भान है कि मैं तो ज्ञानस्वरूप हूँ; मेरे ज्ञानस्वरूप को इस जगत में कोई मित्र या शत्रु नहीं है।—ऐसा वीतरागी अभिप्राय धर्मी को कभी नहीं छूटता। उस अभिप्राय के कारण ज्ञानानन्दस्वरूप की भावना करने से रागादि का क्षय होता है। चौथे गुणस्थान में अभी अमुक राग-द्वेष होता है, उतना दोष है, किन्तु किसी पर को शत्रु या मित्र मानकर वे राग-द्वेष नहीं होते; तथा ज्ञानस्वरूप में वे राग-द्वेष कर्तव्यरूप से भासित नहीं होते। 'मैं ज्ञानस्वरूप हूँ'—ऐसी आत्मभावना के बल से धर्मी के रागादि नष्ट होते जाते हैं।

जबतक यह जीव अपने निजानन्द स्वभाव के सहज अमृत का पान नहीं करता, तभी तक बाह्य पदार्थों को भ्रम से इष्ट-अनिष्ट मानता है; इसलिये इष्ट संयोग में वह मित्रता और अनष्टि संयोग में शत्रुता मानता है। इसप्रकार पर को मित्र या शत्रु मानने के कारण उसका राग-द्वेष का अभिप्राय नहीं छूटता और उसे वीतरागी शांति नहीं होती। किन्तु जब वह संयोग से भिन्न अपने चिदानन्दस्वभाव के वीतरागी अमृत का पान करता है, तब स्वयं को सदैव ज्ञानस्वरूप ही देखता है और ज्ञानस्वरूप में किसी को मित्र या शत्रुरूप से नहीं मानता। अहा! मैं तो ज्ञानमूर्ति हूँ; ज्ञानस्वभाव की भावना में राग-द्वेष हैं ही नहीं; तो फिर राग के बिना मैं किसे मित्र मानूँ और द्वेष के बिना शत्रु? मित्र या शत्रु तो राग-द्वेष में हैं; ज्ञान में मित्र-शत्रु कैसे? ज्ञान में राग-द्वेष नहीं हैं, तो राग-द्वेष के बिना मित्र या शत्रु कैसे?

—इसप्रकार ज्ञानभावनारूप परिणमित ज्ञानी कहते हैं कि मेरे चिदानन्दस्वभाव को देखते ही राग-द्वेष ऐसे क्षीण हो गये हैं कि मुझे जगत में कोई मित्र या शत्रु भासित नहीं होते; जगत से भिन्न अपना ज्ञानानन्दस्वरूप ही मुझे भासित होता है। देखो, ऐसे आत्मस्वरूप की भावना ही वीतरागी

समाधि का उपाय है और वीतरागी समाधि ही भव के अन्त का उपाय है; इसलिये बारम्बार ऐसे आत्मस्वरूप की भावना करना ही कर्तव्य है।

[वीर सं० २४८४, ज्येष्ठ शुक्ला १४ (२), समाधिशतक गाथा २६]

२५ वीं गाथा में कहा है कि—बोधस्वरूप आत्मा की भावना से रागादि का क्षय हो जाने के कारण मुझे कोई शत्रु या मित्ररूप भासित नहीं होता; मैं तो अपने ज्ञानानन्दस्वरूप से शांतरस में ही रहता हूँ।

तो अब पूछते हैं कि—आप भले ही दूसरों को शत्रु या मित्र न मानें, किन्तु दूसरे जीव तो आपको शत्रु या मित्र मानते होंगे न ?—उसके उत्तरस्वरूप गाथा कहते हैं—

मामपश्यन्नयं लोको न मे शत्रुर्न च प्रियः।
मां प्रपश्यन्नयं लोको न मे शत्रुर्न च प्रियः॥२६॥

मैं तो बोधस्वरूप अतीन्द्रिय आत्मा हूँ; जो अतीन्द्रिय आत्मा को नहीं जानते—ऐसे अज्ञ जीव तो मुझे देखते ही नहीं; वे मात्र इस शरीर को देखते हैं, किन्तु मुझे नहीं देखते; इसलिये वे मेरे शत्रु या मित्र नहीं हैं। इस शरीर को वे शत्रु या मित्र मानते हैं, किन्तु मुझे तो देखते ही नहीं, इसलिये बिना देखे शत्रु या मित्र कहाँ से मानेंगे ? अज्ञ जनों को मेरे बोधस्वरूप आत्मा का परिचय ही नहीं है; उनके चर्मचक्षु से तो मैं अगोचर हूँ; वे बेचारे अपने आत्मा को भी नहीं जानते तो मेरे आत्मा को कहाँ से जानेंगे ? और मुझे जाने बिना मेरे सम्बन्ध में शत्रु-मित्रपने की कल्पना कहाँ से कर सकते हैं ?

और आत्मा के स्वरूप को जाननेवाले विज्ञ जन तो किसी को शत्रु-मित्र मानते नहीं हैं, इसलिये मेरे सम्बन्ध में उन्हें भी शत्रु-मित्रपने की कल्पना नहीं होती।

पर में शत्रु-मित्रपने की कल्पना अज्ञानी को होती है, किन्तु वह तो मेरे आत्मा को देखता नहीं है; और ज्ञानी मेरे आत्मा को देखते हैं, किन्तु उन्हें किसी के प्रति शत्रु-मित्रपने की कल्पना नहीं होती; इसलिये मेरा कोई शत्रु-मित्र नहीं है और न मैं किसी का शत्रु-मित्र हूँ—ऐसा धर्मी जानते हैं।

प्रश्न—भरत और बाहुबलि दोनों ज्ञानी होने पर भी उन्होंने परस्पर युद्ध किया था; फिर भी वे एक-दूसरे के शत्रु नहीं हैं ?

उत्तर—दोनों को मात्र चारित्र में अस्थिरता का द्वेष था, किन्तु सामनेवाले आत्मा को अपना

शत्रु मानकर वह द्वेष नहीं हुआ था। उस समय भान था कि मैं ज्ञानस्वरूप हूँ और सामनेवाला आत्मा भी ज्ञानस्वरूप ही है, वह मेरा शत्रु या मित्र नहीं है और न मैं उसका शत्रु या मित्र हूँ। दोनों को अंतर में बोधस्वरूप आत्मा का भान था, इसलिये अभिप्राय की अपेक्षा से किसी को शत्रु-मित्र नहीं मानते थे।

सुख, अर्थात् धर्म के लिये ऐसे आत्मा को जानकर, फिर उसकी भावना में स्वरूपाचरणचारित्र को बढ़ाकर स्थिर होने पर ऐसी समाधि होती है कि किसी के प्रति द्वेष की या राग की वृत्ति ही नहीं उठती।

'स्व' के ज्ञानपूर्वक जो पर को भी अपने ही जैसे स्वभावरूप जानता है, उसे पर के प्रति शत्रु-मित्रपने की मान्यता नहीं होती। 'स्व' के ज्ञान बिना पर को जानता ही नहीं, तो जाने बिना शत्रु या मित्र की कल्पना कहाँ से होगी? अज्ञानी तो जड़ शरीर को ही देखता है और उसी को शत्रु-मित्ररूप से मानता है, किन्तु शरीर तो मैं नहीं हूँ; इसलिये मैं किसी का शत्रु-मित्र नहीं हूँ और न कोई मेरा शत्रु-मित्र है। मैं अपने ज्ञानस्वरूप आत्मा का ही अनुभव करता हूँ।

देखो, यह ज्ञानी की वीतरागी भावना! स्वयं अपने आत्मा को बोधस्वरूप देखते हैं और जगत के समस्त आत्मा भी ऐसे ही बोधस्वरूप हैं, ऐसा जानते हैं; इसलिये अपने को किसी के प्रति शत्रु-मित्रपने की बुद्धि नहीं रही है, तथा दूसरे लोग मुझे शत्रु-मित्र मानते होंगे—ऐसी शल्य भी नहीं रही है। 'अज्ञ' तो मुझे देखता नहीं है और 'विज्ञ' किसी को शत्रु-मित्र नहीं मानते, क्योंकि आत्मस्वरूप की भावना से उनके राग-द्वेष का क्षय हो गया है। इसप्रकार अज्ञ या विज्ञ किसी के साथ मुझे शत्रुता या मित्रता नहीं है; मैं तो ज्ञानस्वरूप हूँ। इसप्रकार बोधस्वरूप आत्मा की भावना से वीतरागी समाधि होती है ॥२६॥

इसप्रकार 'मैं शुद्ध बोधस्वरूप हूँ; मुझे किसी के साथ शत्रु-मित्रपना नहीं है'—ऐसे ज्ञान द्वारा बहिरात्मपना छोड़कर, अन्तरात्मा होकर, संकल्प-विकल्परहित परमात्मा को भाना चाहिये—ऐसा अब कहते हैं—

त्यक्त्वैवं बहिरात्मानमन्तरात्मव्यवस्थितः।
भावयेत्परमात्मानं सर्वसंकल्पवर्जितम् ॥२७॥

पूर्वोक्त रीति से, 'मैं बोधस्वरूप हूँ'—ऐसे स्वसंवेदन द्वारा बहिरात्मपना छोड़कर, अन्तरात्मा होना चाहिये और अन्तरात्मा होकर, समस्त संकल्प-विकल्पों से रहित परमात्मा को भाना चाहिये।—ऐसी परमात्मभावना, वह परमात्मा होने का उपाय है।

जो पर को शत्रु-मित्र मानता है, उसे परमात्मतत्त्व की भावना नहीं होती, उसे तो राग-द्वेष की ही भावना है। मैं सबसे पार बोधस्वरूप हूँ—ऐसा जानकर, बहिरात्मपना छोड़ना तथा अन्तरात्मा होना चाहिये। इसप्रकार आत्मस्वरूप के ज्ञाता अन्तरात्मा होकर अपने परमात्मतत्त्व को सर्वविकल्परहित होकर भाना चाहिये। ऐसी भावना से आत्मा का सहज सुख अनुभव में आता है और वीतरागी समाधि होती है। इसलिये सांसारिक द्वंद-फंद के विकल्प छोड़कर ज्ञानानन्दस्वरूप परमात्मा की ही भावना करना चाहिये ॥२७॥

ज्ञानानन्दस्वरूप को जानकर उसी की भावना करने से क्या फल मिलता है, यह अब कहते हैं—

सोऽहमित्यात्तसंस्कारस्तस्मिन् भावनया पुनः।
तत्रैव दृढ़संस्काराल्लभते ह्यात्मनि स्थितिम्॥२८॥

यह जो शुद्ध ज्ञानस्वरूप परमात्मा है, वही मैं हूँ—ऐसे संस्कार प्राप्त करके, बारम्बार उसी में भावना, उसी में दृढ़ संस्कार होने से आत्मस्वरूप में स्थिति होती है। इसप्रकार स्वरूप में स्थिरता होने पर, आत्मा परम आनन्दानुभव में मग्न होता है।

देखो, यह परमात्मा होने की भावना! अनादि से आत्मा के वास्तविक स्वरूप को भूलकर, शरीर, सो मैं अथवा राग, वह मैं—ऐसी विपरीत भावना दृढ़रूप से बना रखी है, किन्तु देह से तथा राग से पार जैसे परमात्मा हैं, वैसा ही मैं हूँ—ऐसी भावना पहले जीव ने कभी नहीं भायी। 'मैं, ज्ञान-आनन्द का पिण्ड परमात्मा हूँ'—अप्पा सो परमप्पा—ऐसी दृढ़ भावना द्वारा उसमें एकत्वबुद्धि होने से अपूर्व आनन्द का स्वसंवेदन होता है। 'मैं मनुष्य हूँ'—आदि भावनाएँ जिसप्रकार दृढ़रूप से बँध गई हैं, उसीप्रकार 'मैं मनुष्य नहीं किन्तु मैं तो देह से भिन्न ज्ञानशरीरी परमात्मा हूँ'—ऐसी भावना दृढ़रूप से बँधना चाहिये। इतनी दृढ़ भावना होना चाहिये कि उसी में अभेदता भासे, उसी में अपनत्व का भास हो, किन्तु देहादि में कहीं अपनत्व का भास न हो; स्वप्न भी ऐसा आये कि 'मैं चिदानन्द परमात्मा हूँ... अनंत सिद्ध भगवन्तों के साथ मेरा वास है!'—इसप्रकार आत्मभावना के दृढ़ संस्कार द्वारा उसी में लीनता होने पर, आत्मा स्वयं परमात्मा हो जाता है।—यह परमात्मस्वरूप की भावना का फल है; क्योंकि 'जैसी भावना वैसा भवन।'

जो अपने आत्मा को शुद्धस्वरूप से भाता है—अनुभव करता है, उसे शुद्धतारूप भवन-परिणमन होता है; और जो अपने आत्मा का रागादि अशुद्धस्वरूप ही अनुभवन करता है, उसे अशुद्धतारूप परिणमन होता है।

''जे शुद्ध जाणे आत्मने, ते शुद्ध आत्म ज मेलवे;
अणशुद्ध जाणे आत्मने, अणशुद्ध आत्म ज ते लहे।''

—इसलिये आचार्य पूज्यपाद स्वामी कहते हैं कि हे जीव! अपने आत्मा को शुद्ध परमात्मस्वरूप से जानकर, 'यही मैं हूँ'—ऐसी दृढ़ भावना कर और बारम्बार उसकी भावना करके उसमें लीन हो। निज परमात्मस्वरूप की दृढ़ भावना से जीव जब उसमें लीन होता है, (अर्थात् अभेद भावनारूप से परिणमित होता है), तब अनंत आनन्दनिधान का उसे अनुभव होता है तथा वह अपने को वीतरागी परमानन्दस्वरूप परमात्मा मानता है; बाह्य पदार्थों के क्षणिक-काल्पनिक सांसारिक सुखों की ममता उसे छूट जाती है; बाह्य विषयों में उसे स्वप्न में भी सुख की कल्पना नहीं होती। इसप्रकार अभेदबुद्धि से परमात्मस्वरूप का चिन्तन करते-करते साधकदशा बढ़ती है और उसमें स्थिरता हो जाती है, उसी को शुद्धात्मलाभ कहते हैं। शुद्धात्मा की भावना के फल में प्रगटरूप शुद्धात्मदशा प्राप्त करके, जीव अनंत काल तक अनुपम स्वाधीन आत्मसुख का भोक्ता होता है; इसलिये 'सोऽहम्' ऐसी अभेद भावना अर्थात् 'मैं ज्ञानानन्दस्वरूप परमात्मा हूँ'—ऐसे स्वसंवेदन का बारम्बार दृढ़तापूर्वक अभ्यास करना चाहिये ॥२८॥

भेदज्ञान-प्रश्नोत्तर

(समयसार सर्वविशुद्धज्ञान अधिकार के प्रवचनों से)

[अंक १७५ से आगे]

(१६५) प्र०—जड़ का भोक्ता कौन है ?

उत्तर—जड़ का भोक्ता जड़ है; ज्ञानी या अज्ञानी कोई जड़ का भोक्ता नहीं है, क्योंकि आत्मा में उसका अभाव है।

(१६६) प्र०—अज्ञानी काहे का भोक्ता है ?

उत्तर—ज्ञानस्वभाव को न जाननेवाला अज्ञानी, प्रकृति के स्वभाव को अर्थात् हर्ष-शोकादि को ही भोगता है।

(१६७) प्र०—ज्ञानी काहे का भोक्ता है ?

उत्तर—ज्ञानी अपने स्वभाव में एकाग्र होकर अतीन्द्रिय आनन्द का ही उपभोग करता है।

(१६८) प्र०—द्रव्यश्रुत का ज्ञान होने पर भी अभव्य अज्ञानी जीव प्रकृति के स्वभाव को क्यों नहीं छोड़ता ?

उत्तर—उसके भावश्रुतज्ञानस्वरूप शुद्धात्मज्ञान का अभाव है, इसलिये वह प्रकृति के स्वभाव को (हर्ष-शोक के उपभोग को) नहीं छोड़ता।

(१६९) प्र०—द्रव्यश्रुत कैसा है ?

उत्तर—प्रकृति के स्वभाव को छुड़ाने में समर्थ है; इसलिये निमित्तरूप से वह द्रव्यश्रुत (तथा उसके उपदेशक ज्ञानी) ऐसा बतलाता है कि अतीन्द्रिय ज्ञानानन्द ही तेरा असली स्वरूप है, तू ज्ञायकस्वभाव की ओर उन्मुख हो और प्रकृति के स्वभाव को छोड़; वह ज्ञायकस्वभाव को ग्रहण करने तथा प्रकृति के स्वभाव को छोड़ने को कहता है। पुण्य-पाप-शुभाशुभराग राग-द्वेष, हर्ष-शोक उस प्रकृति का स्वभाव है; जो उससे आत्मा को लाभ होना कहे, वह द्रव्यश्रुत नहीं किन्तु कुश्रुत है। द्रव्यश्रुत तो ज्ञायकोन्मुख होकर मिथ्यात्व का नाश होना बतलाता है; और ऐसा द्रव्यश्रुत ही मिथ्यात्वादि को छुड़ाने में समर्थ निमित्त है;—किसे ?—जो भावश्रुतज्ञानस्वरूप शुद्ध आत्मज्ञान प्रगट करे उसे। जो राग से धर्म मनवाता है, वह कुश्रुत है; वह तो मिथ्यात्वादि को छुड़वाने में निमित्त भी नहीं है।

(१७०) प्र०—पात्र श्रोता कैसा होता है ?

उत्तर—जो श्रवण करके उसमें से अपने आत्मा का हित साधना चाहता है; स्वयं अपने आत्मा का हित करने के लिये जिज्ञासापूर्वक सुनता है, वह पात्र श्रोता है किन्तु श्रवण करके फिर दूसरों को सुनाने तथा मान-प्रतिष्ठा प्राप्त करने का जिसका लक्ष है—ऐसे जीव में तो श्रवण की योग्यता भी नहीं है।

(१७१) प्र०—द्रव्यश्रुत के श्रवण का सच्चा तात्पर्य क्या है ?

उत्तर—अंतर्मुख होकर भावश्रुतज्ञान में शुद्ध आत्मा को ग्रहण करना ही द्रव्यश्रुत का सच्चा तात्पर्य है। जो जीव ऐसा भावश्रुतज्ञान-शुद्ध आत्मा का ज्ञान-प्रगट करता है, उसे तो द्रव्यश्रुत मिथ्यात्वादि छुड़वाने का समर्थ निमित्त हुआ। और अज्ञानी ऐसा भावश्रुतज्ञान नहीं करता; इसलिये उसे तो द्रव्यश्रुत का ज्ञान, मिथ्यात्वादि छुड़वाने का निमित्त भी नहीं होता। द्रव्यश्रुत तो अज्ञान छुड़वाने का समर्थ निमित्त है, किन्तु अज्ञानी उसे निमित्त नहीं बनाता। उपादान के बिना निमित्त किसका ?

(१७२) प्र०—जैनशासन किसने जाना ?

उत्तर—जिसने शुद्ध आत्मा को जाना, उसने द्रव्यश्रुत तथा भावश्रुत दोनों को जान लिया है; इसलिये उसी ने जैनशासन को जाना है। पन्द्रहवीं गाथा में भी यही कहा है कि जो शुद्ध अबद्धस्पृष्ट आत्मा को जानता है, वह द्रव्यश्रुत और भावश्रुतरूप समस्त जिनशासन को जानता है। वास्तव में तो अंतर में जो भावश्रुतज्ञान परिणमित हुआ, वही जिनशासन है; द्रव्यश्रुत तो उसका निमित्त है।

(१७३) प्र०—अज्ञानी हर्ष-शोकादि का ही भोक्ता क्यों है ?

उत्तर—अज्ञानी को शुद्धात्मा का ज्ञान नहीं है, इसलिये उसे शुद्ध आत्मा के आनन्द का वेदन नहीं है; इसलिये वह हर्ष-शोक का ही भोक्ता है—ऐसा नियम किया जाता है। निगोद से लेकर नववें ग्रैवेयक तक के समस्त अज्ञानी जीवों को शुद्धात्मा का वेदन न होने से वे नियम से हर्ष-शोक के ही भोक्ता हैं।

(१७४) प्र०—सम्यक्त्वी जीव कैसा है ?—वह काहे का वेदक है ?

उत्तर—आत्मप्रयोजन को साधनेवाला साधक, स्वकर्तव्यपरायण सम्यक्त्वी अपने शुद्धात्मा की ओर उन्मुख होने के कारण परद्रव्यों की ओर से वैराग्यप्राप्त है; इसलिये वह शुद्धात्मा के अनुभव का ही वेदक है, रागादि का वह अपने स्वरूपरूप से अनुभव नहीं करता; इसलिये वह

कर्मफल का अवेदक ही है। मैं स्वयं चिदानन्दस्वरूप ज्ञायक हूँ—ऐसा अनुभव करता हुआ वह अपने आनन्द का ही वेदक है।

(१७५) प्र०—सम्यक्त्वी के क्या है और क्या नहीं है ?

उत्तर—भावश्रुतज्ञानस्वरूप शुद्धात्मज्ञान का उसे सद्भाव है और पर से वह अत्यन्त विरक्त है; इसलिये परद्रव्य का या परभाव का वह अपने स्वरूप में किंचित् एकमेकरूप अनुभव नहीं करता।

(१७६) प्र०—अज्ञानी के क्या नहीं है और क्या है ?

उत्तर—अज्ञानी को शुद्धात्मा का ज्ञान नहीं है; भावश्रुतज्ञान नहीं है; ज्ञायकस्वभाव का वेदन नहीं है। वह पर को तथा हर्ष-शोकादि विकार को अपने स्वरूप में एकमेकरूप मानकर हर्ष-शोक का ही वेदन करता है; इसलिये उसे विकार का ही वेदन है।

(१७७) प्र०—ज्ञानी काहे के लिये अयोग्य है ?

उत्तर—ज्ञानी को अपने ज्ञानस्वभाव में ही एकत्वपना होने से, उस स्वभाव के अनुभव में, 'परद्रव्य का तथा हर्ष-शोकादिभावों का अपनेरूप अनुभवन करने की' उनमें अयोग्यता है; स्वभाव के अनुभव में परभावों का अनुभव करने की अयोग्यता है। इसप्रकार ज्ञानी ज्ञायकस्वभाव के अनुभव के योग्य हैं और रागादि के अनुभव के लिये अयोग्य है; यानी वे रागादि भावों का कभी अपने स्वरूपरूप से अनुभव नहीं करते। जिसप्रकार अभव्य जीव, भेदज्ञान के लिये अयोग्य है; उसीप्रकार ज्ञानी अपने स्वभाव में रागादि का 'अपनेरूप' अनुभव करने में अयोग्य हैं।

(१७८) प्र०—अज्ञानी काहे के लिये अयोग्य है ?

उत्तर—अज्ञानी को शुद्ध आत्मस्वभाव का ज्ञान न होने से बंधसाधकभाव और मोक्षसाधक भाव का विवेक नहीं होने से, वह रागादि परभावों का ही अपनेरूप अनुभव करता है; इसलिये राग से पार चिदानंदस्वरूप के स्वाद का वेदन करने में वह अयोग्य है। जो राग का ही अपने स्वभावरूप से अनुभव करता है, उसे शुद्धात्मा का अनुभव नहीं हो सकता; क्योंकि राग और शुद्ध आत्मा—इन दोनों का एकसाथ अपनेरूप अनुभव करना अशक्य है। राग के अनुभव में शुद्ध आत्मा का अनुभव नहीं है और शुद्ध आत्मा के अनुभव में राग का अनुभव नहीं है।

(१७९) प्र०—धर्मी किसके सन्मुख है और किसके विमुख है ?

उत्तर—धर्मी अपने ज्ञायकस्वभाव के सन्मुख है और विभाव से विमुख है।

(१८०) प्र०—अधर्मी किसके सन्मुख है और किसके विमुख है ?

उत्तर—अधर्मी अपने ज्ञायकस्वभाव को न जानता हुआ और रागादि विभाव को ही अपना स्वरूप मानता हुआ अर्थात् हितकर मानता है, इसलिये वह निरन्तर विभाव के सन्मुख और स्वभाव से विमुख है।

(१८१) प्र०—कौन किसका भोक्ता है ?

उत्तर—जो जिसके सन्मुख है, वह उसी का भोक्ता है। ज्ञानी तो स्वभाव-सन्मुख होने से स्वभाव के ही आनन्द का भोक्ता है और अज्ञानी, विभावसन्मुख होने से विकार का ही भोक्ता है।

(१८२) प्र०—इसमें भेदज्ञान किसप्रकार हुआ ?

उत्तर—विभाव की सन्मुखता में अपने शुद्धात्मा के आनन्द का वेदन नहीं होता, और स्वसन्मुख होकर आनन्द का वेदन करने से उसमें विभाव का वेदन नहीं आता;—इसप्रकार स्वसंवेदन के द्वारा शुद्धात्मा और विभाव को भिन्न-भिन्न जानना, सो भेदज्ञान है और ऐसा स्वसंवेदनजन्य भेदज्ञान, वह मोक्ष का मूल है।

मोक्षमार्ग के पुरुषार्थ और सर्वज्ञ के स्वीकार की संधि

मोक्षमार्ग के मूल उपदेशक सर्वज्ञदेव हैं; इसलिये सर्वज्ञ की स्वीकृति के बिना कभी मोक्षमार्ग का पुरुषार्थ प्रारम्भ नहीं होता। जिन्होंने सर्वज्ञता के अनंत-अचिंत्य सामर्थ्य का स्वीकार किया है, उन्होंने वह किस प्रकार किया है ?—कहते हैं कि—राग से पार होकर, अंतर की चिदानन्दशक्ति की ओर झुकने का कार्य सर्वज्ञता के अचिंत्य सामर्थ्य का यथार्थ स्वीकार बिना किये—नहीं हो सकता।—इसप्रकार राग से पार होकर, अंतर की चिदानन्द शक्ति की ओर झुककर जिसने सर्वज्ञता के अनंत अचिंत्य सामर्थ्य का स्वीकार किया, उसके आत्मा में अचिंत्य मोक्षमार्ग का पुरुषार्थ उछलने लगता है। तथा जिसने इसप्रकार सर्वज्ञता के सामर्थ्य का स्वीकार नहीं किया है, उसका पुरुषार्थ सर्वज्ञ के मार्ग की ओर (अर्थात् मोक्षमार्ग के प्रति) नहीं उछलता।

—इसप्रकार मोक्षमार्ग के पुरुषार्थ और सर्वज्ञ के स्वीकार की संधि है। [—प्रवचन से]

परपद में सोते हुए जीवों को निजपद दिखाकर

संत जागृत करते हैं

[ध्रांगध्रा शहर में पूज्य गुरुदेव का प्रवचन]

(वीर सं० २४८४, वैशाख कृष्ण...)

अंतर में ज्ञानानन्द आत्मा क्या वस्तु है, उसे भूलकर, अनादि से रागादिक परभावों को ही निजपद समझकर उसमें सोते हुए अज्ञानी जीवों को जगाने के लिये आचार्यदेव सम्बोधन करते हैं कि—

आसंसारात् प्रतिपदमयी रागिणो नित्यमत्ताः।
सुप्ता यस्मिन्नपदमपदं तद्विबुध्यध्वमंधाः॥
एतैतेतः पदमिदमिदं यत्र चैतन्यधातुः।
शुद्धः शुद्धः स्वरसभरतः स्थायिभावत्वमेति॥१३८॥

हे अंध प्राणियों! अनादि संसार से लेकर पर्याय-पर्याय में जिस राग को अपना पद मानकर उसमें सोते हो, वह वास्तव में तुम्हारा पद नहीं है—नहीं है; वह तो अपद है—अपद है; ऐसा तुम समझो। राग से विमुख होकर इस ओर आओ... इस ओर आओ। रागरहित शुद्ध चैतन्य धातुमय तथा निज आनन्दरस से परिपूर्ण ऐसा यह तुम्हारा निजपद है—उसे अन्तर में देखो।

चैतन्यमूर्ति आत्मा, देह से भिन्न अनादि-अनंत तत्त्व है; उसे किसी ने नया नहीं बनाया है, और न कभी उसका नाश होता है; वह अनादि-अनंत सत् है। किन्तु अपने चिदानन्द तत्त्व को चूककर अनादि से वह संसार में परिभ्रमण कर रहा है। बाह्य में दूसरा सब कुछ जाना, किन्तु स्वयं कौन है - वह कभी नहीं जाना। इसलिये यहाँ आचार्यदेव कहते हैं कि अरे जीवों! तुम जागो.. जागो! चैतन्य को चूककर जिस राग को ही अपना पद मानकर तुम उसमें सो रहे हो, वह पद तुम्हारा नहीं है... नहीं है; हे अंध प्राणियों! तुम जिस विकार को ही अपना पद मान रहे हो, वह पद तुम्हारा नहीं है.. नहीं है; शुद्ध चैतन्य ही तुम्हारा पद है; उस चैतन्यपद को पहिचानो।

श्रीमद् राजचन्द्रजी १६ वर्ष की छोटी-सी उम्र में कहते हैं कि—

हुं कोण छुं? क्यांथी थयो? शुं स्वरूप छे मारुं खरुं?
कोना संबंधे बलगणा छे? राखुं के ए परिहरुं?
एना विचार विवेकपूर्वक शांत भाव जो कर्यां,
तो सर्व आत्मिकज्ञाननां सिद्धांत तत्त्वों अनुभव्यां।

अरे जीवों! विचार तो करो कि इस देह में विद्यमान आत्मा क्या वस्तु है? उसका वास्तविक सच्चा स्वरूप क्या है? अंतर में आत्मा स्वयं मैं कौन हूँ कि जिसके भान बिना अभी तक मुझे परिभ्रमण करना पड़ा।

आत्मा के भान बिना संसार में भटकता हुआ जीव, नरक और स्वर्ग के भी अनंत अवतार धारण कर चुका है। इस पृथ्वी के नीचे नरकगति का क्षेत्र है। वह नरकगति युक्ति से भी सिद्ध होती है। देखो, यहाँ शासन के न्याय में किसी व्यक्ति ने एक खून किया हो, और उसका वह अपराध सिद्ध हो जाये तो उसे एकबार मृत्युदण्ड-फाँसी दी जाती है। अब, वही व्यक्ति यदि यह स्वीकार करे कि मैंने एक नहीं किन्तु हजारों-लाखों खून किये हैं तो शासन उसे क्या दण्ड देगा?—उसे भी एक ही बार मृत्यु दण्ड दिया जायेगा। अब सोचो, कि एक खून करनेवाले को भी एकबार मृत्युदण्ड और हजारों खून करनेवाले को भी वही एकबार मृत्युदण्ड! यह क्या न्याय है?—नहीं। ''मुझे प्रतिकूलता देनेवाले हजारों-लाखों जीव हों तो उन सबको मैं उड़ा दूँ; और वह भी कुछ काल तक नहीं, किन्तु हजारों वर्ष का जीवन हो तो उतने काल तक प्रतिकूलता उत्पन्न करनेवाले जीवों को उड़वाता रहूँ।'' इतने क्रूर परिणाम जिसने किये हों, वह भले ही कदाचित् किसी जीव को मार न सके किन्तु अपने क्रूर परिणामों का फल तो वह अवश्य ही भोगता है और वह फल भोगने का स्थान नीचे नरक योनि में है, जहाँ हजारों-लाखों बार उसके शरीर के टुकड़े-टुकड़े हो जाते हैं। ऐसे नरक के अवतार प्रत्येक जीव ने अज्ञानभाव के कारण अनंत बार धारण किये हैं। अरे, चैतन्यतत्त्व के भान बिना जीव का अनादिकाल संसार परिभ्रमण में ही व्यतीत हुआ है। एकबार भी यदि मोक्ष हुआ हो तो फिर संसार परिभ्रमण नहीं रहता।

आचार्यदेव कहते हैं कि अरे मोहांध प्राणियों! तुम राग को, शरीर को और आत्मा को एकमेक मानकर अनादिकाल से मोह में सो रहे हो... अब तो जागो.. और जागकर अपने शुद्ध चैतन्यतत्त्व को राग से भिन्न देखो। चैतन्यपद के भान बिना परिभ्रमण दूर नहीं होता। चैतन्य के भान

बिना तीव्र हिंसादि से जीव नरक में जाते हैं और हिंसादि के बदले दयादि कोमल परिणाम से स्वर्ग में—देवगति में—जन्म धारण करते हैं। वह देवगति भी आत्मा का सच्चा पद नहीं है। अरे जीव! तू जागृत हो और विवेक कर कि यह देह या विकार मैं नहीं हूँ, मैं तो चैतन्य हूँ; मेरा निजपद तो शुद्ध चैतन्यस्वरूप है; मेरी शुद्ध चैतन्यसत्ता में राग का प्रवेश नहीं है; अभी तक मैं पर पद के विश्वास से निजपद को भूला रहा; किन्तु सब सन्तों ने परम करुणा करके मुझे अपना निजपद बतलाया है। जिसप्रकार कोई राजा अपना राजत्व भूलकर इधर-उधर घूरों पर भटकता हो और कोई सज्जन उसे उसका राजत्व समझाकर तथा राज्यवैभव बतलाकर राजसिंहासन पर बिठाये तो वह राजा कितना प्रसन्न होगा! उसीप्रकार यह चैतन्यराजा अपना चैतन्यपद भूलकर राग-द्वेषादि विकारीभाव के घूरों पर निजपद मानकर भटक रहा है, वहाँ ज्ञानी सत्पुरुष उसे उसका चैतन्यपद बतलाकर उसे उसके चैतन्यपद में स्थापित करते हैं और वह आत्मार्थी जीव अपने शुद्ध चैतन्यपद को देखकर परम आनन्दित होता है।

—एक प्राणी कहता है कि मुझे निर्दोष होना है; तो उससे यह सिद्ध होता है कि—

- वर्तमान में वह निर्दोष नहीं है।
- वर्तमान में दोष है, किन्तु वह स्थायी नहीं है।

अर्थात् वह दूर हो सकता है।

दोष दूर होकर निर्दोषता कहाँ से आयेगी?—तो कहते हैं कि क्षणिक दोष के समय भी नित्य स्वभाव में निर्दोषता भरी है, उसमें से निर्दोषता आती है। ऐसे स्वभाव की प्रतीति के बिना किसी जीव को दोष दूर होकर निर्दोषता नहीं हो सकती। दोष कहीं स्थायी स्वभाव नहीं है, स्थायी स्वभाव तो निर्दोष है—ऐसा यदि विश्वास करे तो वह निर्दोष स्वभाव की ओर उन्मुख होकर दोष का नाश करके निर्दोषता प्रगट कर सकता है।

जिसप्रकार उष्णता के समय भी पानी का स्वभाव शीतल है; वह शीतल स्वभाव यद्यपि आँख से, नाक से, कान से, जिह्वा से अथवा हाथ के स्पर्श से नहीं देखा जा सकता किन्तु तत्सम्बन्धी ज्ञान के विश्वास से पानी के शीतल स्वभाव का निर्णय करके उसे ठण्डा करता है और फिर उससे तृषा शान्त करता है। उसीप्रकार वर्तमान पर्याय में विकाररूपी उष्णता होने पर भी आत्मा का मूल स्वभाव शांत है; वह शांत स्वभाव यद्यपि आँख से, नाक से, कान से, जिह्वा से या हाथ के स्पर्श से देखा नहीं जा सकता, किन्तु ज्ञान को उस ओर ले जाकर (अन्तर्मुख होकर) उस स्वभाव का निर्णय

होता है और उसके स्वसंवेदन द्वारा शांतरस के पान से अनादि-कालीन तृष्णा शांत होकर भवभ्रमण की थकान उतर जाती है।

आचार्यदेव यह बात किसे समझाते हैं ? जड़ को नहीं समझाते; आत्मा में इसे समझने की शक्ति है—ऐसा जानकर आत्मा को यह बात समझाते हैं। प्रत्येक आत्मा में इसे समझने की शक्ति है; किन्तु सत्समागम से उसका अभ्यास करना चाहिये। मनुष्य भव में यह करने योग्य है। श्रीमद् राजचन्द्रजी कहते हैं कि—

''बहु पुण्य केरा पुंजथी शुभदेह मानवनो मल्यो,
तोये अरे! भवचक्रनो आँटो नहीं अेके टल्यो;
सुख प्राप्त करतां सुख टले छे लेश अे लक्षे लहो,
क्षण क्षण भयंकर भावमरणे कां अहो! राची रहो ?''

सोलह वर्ष की छोटी-सी उम्र में भी उनका आत्मा पूर्वभव का संस्कारी था; इसलिये छोटी उम्र में कहते हैं कि—अरे जीवों! महान पूर्व पुण्य के प्रताप से यह मनुष्य भव प्राप्त हुआ है; उसमें भी यदि आत्मभान द्वारा भवचक्र का अंत नहीं कर पाया तो यह बहुमूल्य मनुष्य भव पाकर तुमने क्या किया ? चींटी के और तुम्हारे अवतार में क्या अंतर रहा ? चैतन्य को चूककर बाह्य विषयों में सुख मानने से और सुख के लिये बाह्य में भटकने से सुख तो प्राप्त नहीं होता, किन्तु आत्मा का सुख उल्टा दूर हो जाता है; यह बात तुम किंचित् लक्ष में तो लो। बाहर की बातों पर लक्ष दिया है, किन्तु अंतर में आत्मा स्वयं सुख से परिपूर्ण है, उसे तो किंचित् लक्ष में लो! चैतन्य को चूककर प्रतिक्षण भावमरण में क्यों संतुष्ट हो रहे हो ? अज्ञानभाव के कारण आत्मा प्रतिक्षण भावमरण से मर रहा है, उस पर तो दया करो! आत्मा को भव दु:ख से उबारने के लिये आत्मा की दया करो, अर्थात् मेरा आत्मा इस भवभ्रमण से कैसे छूटे, उसका उपाय विचारो! आचार्य भगवान कहते हैं कि—यह शुद्ध चैतन्यपद ही तुम्हारा निजपद है, उसे पहिचानो; उस निजपद में स्थिरता से तुम्हारा भवभ्रमण का नाश हो जायेगा।

''धन्य रत्नकूखधारिणी माता''

[जयपुर-महिला सम्मेलन में गुरुदेव के आशीर्वाद]

श्री सम्मेदशिखर आदि तीर्थधामों की यात्रा करके पूज्य गुरुदेव जयपुर नगर में पधारे; उस अवसर पर वहाँ चैत्र शुक्ला १२ के दिन महिला सम्मेलन हुआ था; जिसमें १२-१३ हजार महिलाएँ उपस्थित थीं। उनकी विनम्र प्रार्थना पर पूज्य गुरुदेव ने करीब १० मिनट तक आशीर्वादरूप प्रवचन किया था। उसमें कहा था:—

स्त्री का शरीर और पुरुष का शरीर तो पुद्गल की रचना है; किन्तु भीतर आत्मा सबका एक-सा है। स्त्री का आत्मा भी अपने आत्मा का सुधार कर सकता है। पूर्वकाल में आत्मा का भान कर-करके अनेक स्त्रियाँ एकावतारी हो गई हैं और वर्तमान में भी ऐसी स्त्रियाँ है। सर्वार्थसिद्धि के देव—जो कि मनुष्य होकर सीधे मोक्ष प्राप्त करनेवाले हैं, उन्हें चौथी भूमिका है। स्त्रियाँ अपने आत्मा के आनन्द का स्वसंवेदन करके देवों से भी उच्च भूमिका (—पाँचवाँ गुणस्थान) प्रगट कर सकती हैं। ''हम तो स्त्री हैं, इसलिये हमसे क्या धर्म हो सकता है''—ऐसा नहीं मानना चाहिये। स्त्री का आत्मा भी पाँचवें गुणस्थान तक पहुँच सकता है और देवों द्वारा भी उनकी पूजा होती है। पूर्वकाल में ब्राह्मी-सुन्दरी, चन्दनवाला, सीताजी आदि अनेक महान धर्मात्मा स्त्रियाँ हो चुकी हैं।

बहिनों को सर्व प्रथम ब्रह्मचर्य की रक्षा करनी चाहिये; क्योंकि शील स्त्रियों का आभूषण है। ब्रह्मचर्य के साथ-साथ स्वभावदृष्टि का लक्ष रखना चाहिये। शरीर तो स्त्री या पुरुष किसी का भी हो, किन्तु चैतन्यमूर्ति आत्मा उससे भिन्न है; उसका भान करना चाहिये। जिसप्रकार सोने के अनेक सिक्कों पर हाथी, घोड़ा, मनुष्य आदि के चित्रवाले विभिन्न प्रकार के कपड़े लिपटे हों तो उससे कहीं भीतर का सिक्का नहीं बदल जाता, सिक्के तो समान ही हैं, उसीप्रकार प्रत्येक आत्मा चैतन्यमूर्ति सोने के सिक्के जैसा है; उस पर कोई स्त्री का शरीर है, कोई पुरुष का और कोई हाथी का; किन्तु भिन्न-भिन्न शरीर होने पर भी आत्मा तो उनसे भिन्न चैतन्यमूर्ति है; इसलिये ''मैं स्त्री, मैं पुरुष''—ऐसी बुद्धि छोड़कर ''मैं तो अविनाशी-ज्ञानमूर्ति आत्मा हूँ''—ऐसा समझना चाहिये।

स्त्री के गर्भ में तो त्रिलोकीनाथ तीर्थंकर और चक्रवर्ती आदि शलाका पुरुष आते हैं।

तीर्थंकर भगवान जब गर्भ में आते हैं, उस समय इन्द्र आकर माता का बहुमान करते हैं कि अहो, रत्नकूखधारिणी माता! आप तो जगत की माता हैं... जगत पूज्य हैं.. त्रिलोकपूज्य तीर्थंकर की जन्मदात्री हैं... धन्य है आपकी कुक्षि को...! तीर्थंकर भगवान को जन्म देनेवाली माता भी अल्पकाल में (तीसरी भव में) मोक्ष प्राप्त करती हैं।

महिलाओं की सभा में बोलने का यह पहला ही प्रसंग है... आत्मा का भान करना ही सच्चा अशीर्वाद है। जो आत्मा का भान कर ले, उसे पुनः स्त्री पर्याय नहीं मिलती। आत्मा का स्वसंवेदन करो—यही हमारा आशीर्वाद है और उसी में आत्मा का उद्धार है... व्यक्ति अपना सुधार कर ले, उसी में समाज का उद्धार हो जाता है। 'समाज' भी व्यक्तियों के समूह से निर्मित है; इसलिये व्यक्ति के सुधरने से समाज सुधरता है। समाज के प्रत्येक व्यक्ति को अपना सुधार करना है; दूसरे व्यक्तियों का बिगड़ना-सुधरना तो उन-उन व्यक्तियों पर आधारित है, किन्तु स्वयं को सुधार लेना अपने हाथ में है; इसलिये सत्समागम से सच्चा ज्ञान करके आत्मा के स्वसंवेदन द्वारा स्वयं अपने को सुधार लें; यही हमारा उपदेश है और यही आशीर्वाद।

संयोग के कारण सुख-दुःख नहीं है; अपनी मिथ्या मान्यता-(अपनी भूल) के कारण दुःख है; सच्ची समझ और आत्मानुभव से सुख है।

आठ वर्ष की बालिका भी स्वसंवेदन कर सकती है। किसी प्रकार स्त्रीपर्याय को निंद्य कहा है; किन्तु स्त्रीपर्याय में भी यदि आत्मा का भान करे तो वह आत्मा जगत में प्रशंसनीय है। पुरुष शरीर होने पर भी तीव्र पाप करके कोई-कोई जीव नरक में जाते हैं, और कोई स्त्री-शरीर होने पर भी अंतर में आत्मा का भान करके एक-दो भव में मोक्ष प्राप्त कर लेते हैं; इसलिये शरीर की ओर न देखकर उससे भिन्न आत्मा का ज्ञान करना चाहिये। लोग तो बड़े-बड़े भाषण करके बाह्य में दौड़धूप करने को कहेंगे, किन्तु हमारा वह विषय नहीं है। हमारा विषय तो आत्मा का ज्ञान कैसे हो —वही है। इसलिये सत्समागम से आत्मा को पहिचानने का प्रयत्न करना चाहिये कि जिससे पुनः स्त्रीपर्याय धारण न करना पड़े और अल्पकाल में मुक्ति हो जाये।—यही हमारा आशीर्वाद है।

आठ प्रकार के नियम से
मोक्षमार्ग का स्वरूप

मोक्षमार्ग की ही यह सूचना है, अर्थात् यही मोक्षमार्ग है और दूसरा मोक्षमार्ग नहीं है—ऐसा आचार्यदेव कहते हैं:—

सम्यक्त्वज्ञानयुक्तं चारित्रं रागद्वेषपरिहीणम्।
मोक्षस्य भवति मार्गो भव्यानां लब्धबुद्धीनाम्॥१०६॥

(पंचास्तिकाय)

देखो, यह मोक्षमार्ग! सम्यक्त्व और ज्ञान से संयुक्त ऐसा चारित्र—जो कि रागद्वेष से रहित हो वह, लब्धबुद्धि भव्य जीवों को मोक्ष का मार्ग होता है।

- सम्यक्त्व और ज्ञान से युक्त ही—न कि असम्यक्त्व और अज्ञान से युक्त,
- चारित्र ही—न कि अचारित्र,
- रागद्वेषरहित हो ऐसा ही चारित्र—न कि रागद्वेष—सहित हो ऐसा,
- मोक्ष का ही भावत:—न कि बंध का, (भावत: अर्थात् आशय का अनुसरण करके)
- मार्ग ही—न कि अमार्ग,
- भव्यों को ही—न कि अभव्यों को,
- लब्धबुद्धियों को ही—न कि अलब्धबुद्धियों को,
- क्षीणकषायपने में ही होता है—न कि कषायसहितपने में होता है।

—ऐसा आठ प्रकार से नियम यहाँ देखना।

देखो, यह अनेकान्त; ऐसा ही होता है और अन्य प्रकार से नहीं होता—ऐसा मोक्षमार्ग का अनेकान्तस्वरूप है।

(१) मोक्षमार्ग का चारित्र कैसा होता है? सम्यक्त्व और ज्ञान से युक्त ही होता है; असम्यक्त्व और अज्ञान से युक्त चारित्र कभी नहीं होता। सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान के बिना चारित्र नहीं होता; इसलिये सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान सहितपना होना, वह मोक्षमार्ग का पहला नियम है।

(२) चारित्र ही मोक्षमार्ग है, अचारित्र वह मोक्षमार्ग नहीं है; चारित्र अर्थात् स्वरूप में रमणता; उसके बिना मोक्षमार्ग नहीं होता।—यह दूसरा नियम है।

(३) मोक्षमार्ग में जो चारित्र है, वह कैसा होता है ?—तो कहते हैं कि राग-द्वेष रहित ही होता है; राग-द्वेष सहित हो, वह मोक्षमार्ग नहीं है। पंचमहाव्रतादि का राग, वह मोक्षमार्ग नहीं है—ऐसा यहाँ स्पष्ट नियम कहा है। रागद्वेषरहित चारित्र ही मोक्षमार्ग है; राग, वह मोक्षमार्ग नहीं है, राग तो बंधमार्ग है। सरागचारित्र को (व्यवहाररत्नत्रय को) व्यवहार-मोक्षमार्ग इसी शास्त्र में आगे कहेंगे; किन्तु वहाँ इस नियम को लक्ष में रखकर उसका भावार्थ समझना चाहिये। यहाँ तो स्पष्ट नियम है कि—रागद्वेषसहित चारित्र, वह मोक्षमार्ग नहीं है किन्तु रागद्वेष रहित ऐसा वीतरागी चारित्र ही मोक्षमार्ग है।—यह तीसरा नियम कहा।

(४) सम्यग्दर्शन-ज्ञानसहित और रागद्वेषरहित ऐसा जो चारित्र है, वह मोक्ष का ही मार्ग है; और वह मोक्ष का ही मार्ग होने से बंध का मार्ग नहीं है;—ऐसा स्पष्ट आशय उसमें से निकलता है। देखो, यह नियम! जो मोक्ष का मार्ग है, वह बंध का मार्ग नहीं है। राग तो बंध का मार्ग है, तो फिर वह मोक्षमार्ग कैसे होगा ? वीतरागचारित्र जो कि मोक्ष का ही कारण है, वह बंध का कारण किंचित् नहीं होता।—यह चौथा नियम है।

(५) ऐसा सम्यग्दर्शन-ज्ञानसहित, रागद्वेषरहित चारित्ररूप जो भाव है, वह मार्ग ही है, अमार्ग नहीं है। ऐसे चारित्र सहित हो और मोक्षमार्ग न हो-ऐसा नहीं हो सकता। यह अमार्ग नहीं किन्तु मार्ग ही है। ऐसा मार्ग जिसके आत्मा में प्रगट हो, उसे मार्ग का सन्देह दूर हो जाता है, मोक्ष का सन्देह दूर हो जाता है और मार्ग की निःशंकता हो जाती है कि यह मार्ग ही है। मोक्ष का यही मार्ग होगा या दूसरा होगा—ऐसा सन्देह धर्मी को नहीं होता। इसप्रकार सम्यग्दर्शन-ज्ञान सहित जो वीतराग चारित्र है, वह मोक्ष का मार्ग ही है और अमार्ग नहीं है।—यह पाँचवाँ नियम हुआ।

(६) ऐसा मोक्षमार्ग किसे होता है ?—तो कहते हैं कि—भव्यों को ही ऐसा मोक्षमार्ग होता है; अभव्यों को नहीं होता। भव्य अर्थात् मोक्ष के योग्य; जो जीव, मोक्ष के योग्य है, उसी को ऐसा मोक्षमार्ग होता है; अभव्यों को मोक्षमार्ग नहीं होता।—यह छठवाँ नियम कहा।

(७) भव्यों में भी लब्धबुद्धियों को ही मोक्षमार्ग होता है, अलब्धबुद्धियों को नहीं होता। यहाँ लब्धबुद्धि कहने से सामान्य विकास की बात नहीं है, किन्तु लब्धि अर्थात् आत्मा के निर्विकार

स्वसंवेदन की प्राप्ति; ऐसे स्वसंवेदन ज्ञान से जो सहित है, वह लब्धबुद्धि है, और ऐसे लब्धबुद्धियों को ही मोक्षमार्ग होता है। जो आत्मा के स्वसंवेदनज्ञान से रहित हैं—ऐसे अलब्धबुद्धियों को मोक्षमार्ग नहीं होता।—यह सातवाँ नियम जानना।

(८) क्षीणकषायपने में ही मोक्षमार्ग होता है, कषायसहितपने में नहीं; अर्थात् सम्यग्दर्शन-ज्ञानपूर्वक के वीतरागी चारित्र से कषायों की जितनी क्षीणता हुई है, उतना ही मोक्षमार्ग है; जितना कषायसहितपना है, वह मोक्षमार्ग नहीं है। कषाय-कण तो बंध का कारण है। कषाय-कण होने पर भी वहाँ जितना वीतरागीचारित्र (कषाय के अभावरूप) है, उतना मोक्षमार्ग है; और जो कषाय-कण है, वह मोक्षमार्ग नहीं है; इसलिये क्षीणकषायपने में ही मोक्षमार्ग होता है और कषायसहितपने में मोक्षमार्ग नहीं होता।—ऐसा आठवाँ नियम कहा।

—इसप्रकार इन आठ नियमों से मोक्षमार्ग को जानना चाहिये।

संतों की ऊर्मि

प्रश्न—आत्मा के अनुभव में झूलते हुए संतों को कैसी ऊर्मि उठती है ?

उत्तर—आत्मा के आनन्द में झूलते हुए संतों को ऐसी ऊर्मि उठती है कि—अहो ! यदि जगत के जीव आत्मा का ऐसा ज्ञानस्वभाव समझ लें तो उनका अज्ञान दूर हो सकता है... आत्मा के ऐसे आनन्द को जगत के जीव देखें तो उनका दु:ख दूर हो जाये... अहो, ऐसा आनन्दस्वरूप भगवान-आत्मा पर से अत्यन्त पृथक् है; उसे यदि कोई जीव एकबार भी परमार्थ दृष्टि से ग्रहण कर ले तो उसके अज्ञान का ऐसा नाश हो कि वह ज्ञानधन आत्मा पुन: बन्धन में न पड़े—उसकी मुक्ति हो जाये ! इसलिये "हे भव्य जीवो ! आत्मा को पर के कर्तृत्व से रहित ज्ञायकभावरूप से विलसता हुआ देखो !"—ऐसा उपदेश संतों ने परम करुणाबुद्धिपूर्वक दिया है।

अनेकांत अमृत है

[आषाढ़ शुक्ला २ के प्रवचन से]

द्रव्य सत् है, वह अपने गुण-पर्यायों से अभेद है; इसलिये गुणों के साथ नित्य स्थिर रहकर नई-नई पर्यायरूप से स्वयं परिणमित होता है। ऐसे द्रव्य का स्वरूप चतुष्टय से (अपने द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव से) सत्पना है और परचतुष्टय से असत्पना है।—सर्वज्ञ भगवान का देखा हुआ ऐसा वस्तुस्वभाव है।

सर्वज्ञ भगवान ने राग और विकल्प से पार होकर अतीन्द्रियज्ञान द्वारा जगत के पदार्थों का ऐसा स्वरूप जाना और फिर राग और विकल्प के बिना वाणी से वीतरागरूप से वह कहा गया। उन तत्त्वों को राग और विकल्प से पार ऐसे भावश्रुतज्ञान द्वारा जानने पर सम्यग्ज्ञान की प्रसिद्धि होती है। इसप्रकार सम्यग्ज्ञान की प्रसिद्धि कराने के हेतु यह शास्त्र का उपदेश है।

जो 'सत्' है, वही पररूप से 'असत्' है, किन्तु सत् का सर्वथा नाश होकर वह असत् हो जाये—ऐसा नहीं होता। सत् का सर्वथा विच्छेद नहीं होता, और जो सर्वथा असत् हो, उसकी उत्पत्ति नहीं होती।

''जो है, वही नहीं है''—किसप्रकार?—कि 'स्यात्' अर्थात् स्व-रूप से जो सत् है, वही पररूप से सत् नहीं है; किन्तु स्व-रूप से जो 'सत्' है, वही स्व-रूप से भी 'असत्' है—ऐसा नहीं है। यदि ऐसा हो तो पदार्थों को कोई स्वरूप ही नहीं रहता। अर्थात् वह सत् भी सिद्ध नहीं होता और असत् भी सिद्ध नहीं होता। इसलिये 'सत्पना' तो स्व-रूप से है और 'असत्पना' पररूप से है;—ऐसा अनेकान्तरूप वस्तुस्वरूप है।

आत्मा सत् है—किस रूप से? अपने ज्ञान-आनन्द रूप से; आत्मा असत् है—किस रूप से? देहादि पररूप से;—ऐसे अपने 'सत्' स्वरूप को न देखकर, पररूप से—देहादिरूपसे या मात्र रागादिरूप से ही स्व-सत्ता मानना, सो भ्रमणा है, वह आत्मभ्रान्ति है तथा वही संसार का मूल है।

जो सत् है, वह त्रिकाल रहनेवाला है और त्रिकाल अपनी पर्याय सहित है; क्योंकि पर्यायरहित सत् किसी काल नहीं होता... तो अब त्रिकाल सत् को या उसकी किसी पर्याय को

पराश्रयता कहाँ रहेगी!! जगत में अन्य परवस्तुओं का अस्तित्व हो भले, किन्तु उनका सत्पना उनमें है, आत्मा में नहीं है। इसलिये पर के कारण कहीं आत्मा का सत्पना नहीं है या पर के कारण आत्मा की पर्याय नहीं है; उसीप्रकार आत्मा के कारण पर का सत्पना या पर की पर्याय नहीं है।

अहा! आत्मा तो जगत से भिन्न परमशांत अतीन्द्रियरस का सागर है; उसे चूककर राग के रस में रुकना, सो संसार है और अंतर्मुख होकर शांतरसस्वरूप आत्मा का स्वसंवेदन करना, सो मुक्ति का मार्ग है।

शरीर की अस्वस्थता आदि जो कुछ हो, वह शरीर में-पुद्गल में है, जीव में नहीं है; तो उसके कारण आत्मा की परिणति रुके, बिगड़े या ढीली हो—ऐसा नहीं है। अरे, चैतन्य की प्रभुता में पर की सत्ता ही नहीं है, तो पर उसका क्या करेगा? किन्तु पर के कारण मेरा कुछ होता है और मेरे कारण पर का—ऐसी भ्रमणा जीव को अंतर्मुख नहीं होने देती; और अंतर्मुखता के बिना आत्मशांति का वेदन नहीं होता; वह जीव बहिर्भावों में ही भटकता है।

आत्मा ज्ञाता है, पदार्थ ज्ञेय है; दोनों सत् हैं, किन्तु ज्ञाता में परज्ञेय नहीं हैं। स्व का अस्तित्व स्व-रूप से है और पर का पररूप से; स्व-पर की एक-दूसरे में नास्ति है; ऐसा समझकर पर से भिन्न स्व में अंतर्मुख होने से उपादान-निमित्त के और निश्चय-व्यवहार के सभी स्पष्टीकरण हो जाते हैं; कहीं निमित्ताधीनबुद्धि या पराधीनबुद्धि नहीं रहती; स्वरूप की अंतर्मुखता में परम शांतरसरूप अमृत का वेदन होता है।

—ऐसा अनेकान्त का फल होने से अनेकान्त अमृत है। उस अमृत को पूज्य गुरुदेव के हस्ताक्षरों में परोसें तो:—

—अनेकान्त वह अमृत है।

कारण, सत् स्व-रूप से है और पररूप से नहीं है।

उसमें स्व का होना, पर के अभाव भावरूप होने से स्व की शांति का वेदन होता है।—यही अमृत है।

हे आत्मार्थी बन्धुओं! पूज्य गुरुदेव द्वारा प्रवाहित अमृतधारा का पान करो... उस अमृत-रस के पान से अमरपद की प्राप्ति होगी।

सस्ते में मिलेगा

श्री कुन्दकुन्दाचार्यदेव कृत

पंचास्तिकाय संग्रह

यानी

पंचास्तिकाय शास्त्र

इसका अक्षरशः ठीक रूप में अनुवाद प्रथम बार ही हुआ है। प्राचीन हस्तलिखित प्रतियों को एकत्र करके पाँच साल तक उत्तम परिश्रम द्वारा-आचार्यवर श्री अमृतचन्द्र की टीका का अक्षरशः अनुवाद तैयार हुआ है, जो सर्व प्रकार उत्तम और संशोधित व संस्कृत टीका सहित है, टीका के नीचे कठिन विषयों पर अच्छा प्रकाश डालनेवाला विस्तृत फुटनोट भी दिया है, बढ़िया कागज सुन्दर छपाई और मजबूत सुन्दर बाइडिंग सहित सर्व प्रकार से मनोज्ञ और महान ग्रंथ होने पर भी मूल्य ४-५० है, पोस्टेजादि अलग (पृ० सं० ३१५) थोक लेने पर कमीशन २५) सें० देंगे।

मिलने का पता—

श्री दि० जैन स्वाध्याय मन्दिर ट्रस्ट

सोनगढ़ (सौराष्ट्र)

[जैन-जैनेतर समाज में अवश्य प्रचार में लाने योग्य यह उत्तम साहित्य है।]

परमपूज्य श्री कानजी स्वामी के आध्यात्मिक वचनों का अपूर्व
लाभ लेने के लिये निम्नोक्त पुस्तकों का—

अवश्य स्वाध्याय करें

पंचास्तिकाय	४ ॥)	ज्ञानस्वभाव ज्ञेयस्वभाव	२ ॥)
मूल में भूल	।।।)	मोक्षशास्त्र बड़ी टीका सजिल्द	५)
श्री मुक्तिमार्ग	॥=)	सम्यग्दर्शन (दूसरी आवृत्ति)	१ ॥=
श्री अनुभवप्रकाश	॥)	द्वादशानुप्रेक्षा (स्वामि कार्तिकेयानुप्रेक्षा)	२)
श्री पंचमेरु आदि पूजासंग्रह	।।।)	जैन तीर्थ पूजा पाठ संग्रह कपड़े की जिल्द	१ ।=)
समयसार प्रवचन भाग २	५ ।)		
समयसार प्रवचन भाग ३	४ ॥)	भेदविज्ञानसार	२)
प्रवचनसार	५)	अध्यात्मपाठसंग्रह	५)
अष्टपाहुड़	३)	समाधितन्त्र	२ ।=)
चिद्विलास	१=)	समयसार पद्यानुवाद	।)
आत्मावलोकन	१)	निमित्तनैमित्तिक संबंध क्या है ?	=)
मोक्षमार्ग-प्रकाशक की किरणें प्र०	१ ।=)	स्तोत्रत्रयी	॥)
द्वितीय भाग	२)	लघु जैन सिद्धांत प्रवेशिका	=)
जैन सिद्धांत प्रश्नोत्तरमाला प्र०	॥-)	'आत्मधर्म मासिक' लवाजम-	३)
द्वितीय भाग	॥-)	आत्मधर्म फाइलें १-३-५-६-७-८-१०-११-१२-१३ वर्ष	३ ।।।)
तृतीय भाग	॥-)		
जैन बालपोथी	।)	शासन प्रभाव	=)

[डाकव्यय अतिरिक्त]

मिलने का पता—
श्री दि० जैन स्वाध्याय मन्दिर ट्रस्ट
सोनगढ़ (सौराष्ट्र)

मुद्रक—नेमीचन्द बाकलीवाल, कमल प्रिन्टर्स, मदनगंज (किशनगढ़)
प्रकाशक—श्री दि० जैन स्वाध्याय मंदिर ट्रस्ट के लिये—नेमीचन्द बाकलीवाल।